मुद्रक—
कैप्टन जोर्वासिह उज्वल
राजस्थान टाइम्स, लि॰

प्रथम संस्करण १९५१ : ३००० प्रतियाँ
मूल्य ३)

प्रकाशक :
विद्याभवन सोसायटी,
उदयपुर

प्रस्तावना

श्रीमालीजी एक सफल शिक्षाशास्त्री हैं। आपने अपने विषय का गंभीर अध्ययन किया है और शिक्षा के क्षेत्र में कई नवीन प्रयोग भी किये हैं। आप विद्याभवन के प्राण हैं। विद्याभवन कोई प्रवाह-पतित सस्था नहीं है। इसकी अपनी विशेषता है और इसका अपना आदर्श है। इसी कारण इस संस्था की देश में अच्छी प्रसिद्धि है। प्रस्तुत पुस्तक श्रीमालीजी ने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर लिखी है। शिक्षा से सबन्ध रखनेवाले अनेक विषयो का इस ग्रन्थ में उल्लेख है। श्रीमालीजी ने शिक्षा के विविध पहलुओ पर अपने विचार विस्तार से दिये है। अनेक विद्वानो के प्रामाणिक ग्रन्थो से उद्धरण देकर श्रीमालीजी ने पुस्तक के महत्व को बढा दिया है।

श्रीमालीजी ने इस बात पर उचित ही जोर दिया है कि शिक्षा का समाज से घनिष्ठ सबन्ध है और विविध विद्याओ तथा शास्त्रो का अध्ययन ही शिक्षा पद्धति का एक मात्र उद्देश्य न होना चाहिये। विद्यार्थी को विद्याचरण सपन्न बनाना; जिससे वह एक अच्छा नागरिक भी बन सके और अपने देश की वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति में सहायक हो सके शिक्षा पद्धति का मुख्य ध्येय होना चाहिये। पुनः शिक्षा प्रणाली के गठन में इसका भी ध्यान रखना होगा कि उसके द्वारा वर्तमान युग के नवीन सामाजिक मूल्यो की पुष्टि हो।

ऐसे युक्तियुक्त तथा विचारपूर्ण ग्रन्थ के लिखने पर मैं श्रीमालीजी को बधाई देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि इसका उचित आदर होगा।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी.
१२. २ ५२

नरेन्द्र देव
वाइस चान्सलर,

प्राक्कथन

स्वतन्त्रता के वाद हमें यह अवसर मिला है कि हम अपने समाज को जैसी चाहें वैसी रचना करें। लोकतन्त्र को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार कर के हमने पहला कदम अपने समाज के नवनिर्माण की तरफ उठाया है। अव हमको वे सव साधन जुटाने है जिनके द्वारा हम अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे वढते रहें। लोकतंत्र एक प्रगतिशील आदर्श है। जैसे जैसे हम आगे वढते जायेंगे और हमको नये अनुभव होते जायेंगे वैसे वैसे आदर्श प्राप्ति के नये नये मार्ग भी सूझते जायेंगे। लोकतंत्र केवल एक सिद्धान्त ही नहीं है वरन् विभिन्न सिद्धान्तो का समालोचक भी है।

हमारे समाज की सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि हम लोकतंत्र के लक्ष्य को अच्छी तरह पहिचानें। लोकतंत्र केवल राज्य प्रणाली ही नहीं है उससे भी अधिक वह जीवन का एक विशिष्ठ ढंग है। जीवन के मूल्य, दृष्टिकोण, आदर्श और आचरण सभी का इसमें समावेश होता है। लोकतंत्र का स्वरूप व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही है। उसमें व्यक्ति के विकास, उसकी स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सुख प्राप्ति का समावेश है पर साथ ही वह समाज के अन्य व्यक्तियो के विकास, स्वतंत्रता और सुख-सुविधाओ के साथ गुथा हुआ है। समाज से अलग व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं है। लोकतंत्र का नैतिक आधार ही यह है कि समाज की सारी व्यवस्थाएं जैसे राज्य उद्योग, व्यवसाय आदि समाज के सभी व्यक्तियों के पूर्ण विकास के साधन वन सकें।

लोकतंत्र एक वैज्ञानिक पद्धति है। वह वुद्धि मार्ग का अनुसरण करता है और वैज्ञानिक पद्धतियो का उपयोग सामाजिक क्षेत्र में करने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी व्यक्तिगत समस्याओ

को बुद्धि द्वारा हल करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार लोकतंत्र भी सामाजिक समस्याओं को हल करने में बुद्धि का उपयोग करता है। लोकतंत्र में सामाजिक हितों के रक्षार्थ निरन्तर प्रयत्न होता रहता है, सिद्धान्तों का निरन्तर निरीक्षण तथा प्रयोग चलता रहता है और इसी तरह सामाजिक सत्य का अन्वेषण होता रहता है।

लोकतंत्र के नैतिक और वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय हमें भलीभाँति होना चाहिये ताकि जो भी साधन और मार्ग हम उसको प्राप्त करने को अपनावें, वे उसके अनुकूल हों। लोकतंत्र को प्राप्त करने के तथा उसे बनाये रखने के साधन और तरीके भी लोकतांत्रिक होने चाहियें। जिस हद तक हम अपने घर, स्कूल, सामाजिक, राजनैतिक संस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों में लोकतांत्रिक व्यवहार का उपयोग करते हैं उसी हद तक हमको लोकतंत्र की प्राप्ति होती हैं। लोकतंत्र कोई अंतिम और दूर दिखाई पड़नेवाला लक्ष्य नहीं है। वह तो प्रति क्षण अपने दैनिक जीवन और आचरण में प्राप्त किया जा सकता है।

शिक्षा समाज निर्माण का महत्वपूर्ण साधन हो सकती है पर सामा-जिक लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होने चाहियें। एक बार लक्ष्य स्पष्ट हो जाने पर उसके लिये समुचित साधन जुटाये जा सकते हैं। हमारे समाज ने लोकतंत्र को अपना तो लिया है पर उसके नैतिक और वैज्ञानिक आधार को गहराई से नहीं समझा है। स्वतंत्रता के बाद हमारे देश की अनेक समस्याओं को सुलझाने में हम असफल रहे हैं, जिसका एक प्रधान कारण यह है कि लोकतंत्र के प्रति लोगों में न काफी आस्था है और न उसके लक्ष्य को ही हमने पहचाना है। देश में उत्पादन के काफी साधन होते हुए भी हम अपनी भूख और वस्त्र की बुनियादी समस्या को हल नहीं कर पा रहे हैं। हमारे देश में रचनात्मक शक्ति की कमी नहीं है पर आज हमारे नेता लोग उसका उपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

शिक्षा का यह महत्वपूर्ण काम है कि वह हमारी प्राचीन तथा अर्वा-

चीन संस्कृति को आलोचना की कसौटी पर कसे, हम को भविष्य की ओर अग्रसर करे तथा लक्ष्य प्राप्ति के हेतु जनमत तैयार करे।

लेखक ने इसी दृष्टि से समय-समय पर विद्याभवन सोसायटी के मुखपत्र 'जनशिक्षण' में भारतीय लोकतन्त्र और शिक्षा के सम्बन्ध पर विवेचन किया है। यह पुस्तक अधिकतर उन्हीं लेखो का संग्रह है। निम्न-लिखित लेख अन्य पत्रिकाओ में भी प्रकाशित हुवे थे।

१. शिक्षा और राजनीति : 'शिक्षा' प्रयाग : अप्रेल, १९४९
२. स्वतत्र भारत में पब्लिक स्कूलो का स्थान 'शिक्षा' प्रयाग जुलाई १९४९.
३. जीवन के मूल्य और शिक्षा : सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ · अगस्त १९५०. हिन्दी भवन, कालपी।
४. भारतीय स्कूलो में शिक्षा स्वातत्र्य (अग्रेजी) दी माडर्न रिव्यू : दिसवर १९४९.
५. भारतीय सस्कृति संकट में ' (अग्रेजी): एडवेन्चर्स इन एज्यूकेशन ' बम्बई, जनवरी १९५०.
६ भारतीय युवको के विद्रोह (अग्रेजी): मोडर्न एज्यू-केशन अङ्क २ जनवरी १९५२ राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली।

इन पत्रिकाओ के प्रति मै अपना आभार प्रकट करता हूं कि इन्होने पुनः इन लेखो को इस पुस्तक में प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान की।

इस पुस्तक में एक कमी है जिसके लिये पाठको से क्षमा याचना करना चाहता हूं। यह पुस्तक एक साथ बैठ कर नहीं लिखी गई है। पिछले चार वर्षो में जैसे जैसे शिक्षा की समस्याएं उपस्थित होती गई वैसे वैसे ही उन पर मै लिखता गया। इस कारण सम्भव है इसमें कई स्थानो पर पुनरावृति दोष दिखाई पडे।

इस पुस्तक को तैयार करने में सबसे बड़ी सहायता मेरे मित्र और साथी श्री प्रतापसिंह सुराणा से प्राप्त हुई जिन्होंने बड़े परिश्रम से इसकी भाषा को सुधारा है और प्रूफ देखे हैं। मेरे साथी श्री नन्द चतुर्वेदी और श्री कैलाशचन्द्र जैन ने कृपा कर पान्डुलिपि तथा प्रूफ को देख कर जो सुझाव दिये उसके लिये भी मैं कृतज्ञ हूँ।

विद्याभवन सोसायटी और उसके संस्थापक डॉ० मेहता के प्रति मैं जितना भी आभार प्रकट करूँ उतना कम है। विद्याभवन में शिक्षा में निरन्तर खोज करने की स्वतंत्रता तथा डॉक्टर मेहता के बराबर प्रोत्साहन और मार्गदर्शन का ही यह फल है कि आज मैं इस पुस्तक को पाठकों के सामने रखने में समर्थ हुआ हूँ।

अन्त में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिसने इस पुस्तक को प्रकाशित करवाने में कुछ आर्थिक सहायता प्रदान की है।

विद्याभवन, उदयपुर
१४-२-५१

कालूलाल श्रीमाली

विषय सूची

जीवन के मूल्य और शिक्षा

शिक्षा का सम्बन्ध समाज से है । शिक्षा पर समाज के मूल्यो का प्रभाव पडता है । किसी भी देश व काल की शिक्षा पद्धति को हम देखें तो उसमें हमको उस देश व काल के समाज सगठन तथा जीवन के मूल्यो का दिग्दर्शन होगा । भारतवर्ष की पुरातन उपनिषद् तथा बौद्धकालीन और यूनानी तथा मध्यकालीन यूरोप की शिक्षा पद्धति के भिन्न आदर्श थे । इन शिक्षा पद्धतियो मे विशेष प्रकार के जीवन मूल्यो पर तथा नैतिक गुणों पर जोर दिया जाता था और विशेष प्रकार का व्यक्तित्व बनाने का प्रयत्न किया जाता था ।

जब हम शिक्षा के पुनर्निर्माण पर विचार करते है तो पहला प्रश्न यह उठता है कि जीवन के वे कौन से मूल्य तथा गुण है जिन पर हम ज़ोर देना चाहते है और किस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते है । यह निर्णय करने के पहले हमको यह विचार करना पडेगा कि कौन से मूल्य ऐसे है जो हमारे समाज मे परम्परा से प्रचलित रहे है और हमारे जीवन को प्रभावित करते रहे है ।

अन्तिम वास्तविकता अर्थात् सत्य के प्रति हमारा एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रहा है । हमारा यह मत रहा है कि सत्य तक हम अपनी बुद्धि द्वारा नही पहुँच सकते । अन्तिम सत्य की खोज हम तर्क अथवा विश्लेषण द्वारा नही प्राप्त कर सकते बल्कि उसको प्राप्त करने के लिये अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता होती है । बौद्धिक ज्ञान से हम केवल इस ससार को जान सकते है या जीवन की भौतिक सुख-सुविधा प्राप्त कर सकते है । बिना ज्ञान के कर्तव्य कर्म मे हम सफल नही हो सकते ।

इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान अथवा बौद्धिक ज्ञान हमको बहुत दूर नही ले जा सकता । जहाँ केवल बौद्धिक ज्ञान होता है वहाँ अविद्या रहती है । वास्तविक सत्य को प्राप्त करने के लिये हमको बुद्धि के ऊपर उठना पडेगा । हमको स्वार्थ और अहंवाद से विरक्त होकर अपने आप को उस परमात्मा में मिला देना पड़ेगा जिससे हमारी बुद्धि और हमारी इन्द्रियो का विकास हुआ है । जब हम अपने आप को परमात्मा में लीन कर देंगे तो वस्तु भेद मिट जायगा और हम वास्तविकता तक पहुँचेंगे । अन्तर्ज्ञान व्यक्तिगत होता है और इसलिये वह एक-दूसरे को शब्दों द्वारा नही पहुँचाया जा सकता । इस प्रकार के ज्ञान को न तो हम प्रमाणित ही कर सकते है और न हम उस पर तर्क वितर्क कर सकते है । यह ज्ञान उन सब अपूर्ण और एक-देशीय ज्ञानो के ऊपर होता है जो हमें इन्द्रियो तथा बुद्धि से प्राप्त होता है । परम सत्य की अनुभूति हमको तब ही होती है जब हमारा मन शान्त और सुस्थिर होता है । इस प्रकार बुद्धि का और अन्तर्ज्ञान का भेद हमको हमारे दर्शनो में मिलता है । दोनो ही प्रकार के ज्ञान आवश्यक है और जीवन में दोनो ही एक दूसरे के पूरक है ।[१]

दूसरा विचार जो हमारे यहाँ प्रचलित रहा है वह यह है कि जब तक हम अलग व्यक्तित्व कायम रखते है हम जीवन के बन्धनों से मुक्त नही होते । व्यक्तित्व का विकास और अन्तिम लक्ष्य यही है कि वह परमात्मा में मिल जावे । उसी दशा में हम जीवन मरण, दिशा और काल से ऊपर उठ सकते है और ससार के बन्धनों से मुक्त हो सकते है । हमारा व्यक्तित्व परमात्मा का एक अंग है और जब तक हम अपने आपको उससे अलग समझते है तब तक हम अपने असली रूप को नही जानते । इसी कारण हमारे शास्त्रो में आत्मज्ञान और तत्वज्ञान पर इतना अधिक जोर दिया

---

१. S. Radhakrishnan: *An Idealist View of Life*, pp. 143–148.

गया है। जीवन का लक्ष्य यह समझा जाता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को धीरे धीरे भूलता जाय और अपने आपको ब्रह्म का सच्चा स्वरूप समझने लगे जिसका कि वह केवल अंश मात्र है। जैसे जैसे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को भूलता जाता है और ब्रह्म से तदाकार स्थापित करता है वैसे ही वैसे वह मुक्ति के निकट पहुँचता जाता है और अन्त में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने का नाम ही मुक्ति है। ऐसी दशा में मनुष्य जीवन और मरण के सुख दुखो से मुक्त होकर स्थान व काल से ऊपर उठकर ब्रह्म में लीन होकर परम आनन्द की अवस्था में पहुँच जाता है। हिन्दू धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य इसी अवस्था को पहुँचना है। २

तीसरा विचार जो हिन्दू दर्शनो में मिलता है वह यह है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म ही सत्य है। कर्म के बन्धनो के कारण मनुष्य अपने असली रूप को भूल जाता है और वह संसार के सुख दुखो में लिप्त हो जाता है। मनुष्य जब तक अज्ञान में रहता है तब तक उसको इस संसार की अनुभूति होती है, उसको इन्द्रिय जनित ज्ञान होता है, उसमें भावनाएँ और इच्छाएँ होती हैं परन्तु ज्योंही वह अपने असली रूप को पहचान लेता है वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है और भावना व इच्छा से रहित हो जाता है। जब तक मनुष्य संसार में लिप्त रहता है और अपने असली रूप को नही पहचानता है तब तक वह संसार के अनुभवो को, सासारिक सुखो को और सासारिक घटनाओ को वास्तविक समझा करता है। अपने पुराने कर्मो के कारण ही उसको अपने साथ संसार का यह झूठा सम्बन्ध होने की तथा सासारिक सुखो की अनुभूति होती है। परन्तु ज्योंही उसको मुक्ति मिल जाती है, संसार और उसके अनुभवो से उसका सम्बन्ध छूट जाता है। वेदान्त में

---

२. S. Radhakrishnan· An Idealist View of Life, pp. 303-311.

तो यहाँ तक कहा गया है कि इस ससार का कोई अस्तित्व ही नही है। यह केवल मायावी कल्पना है और यह तभी तक रहती है जब तक कि हमको सच्चा ज्ञान प्राप्त नही होता है। जब हमको 'तत्वमसि' का बोध हो जाता है तब हमारे जितने भी ससार के अनुभव है सब मिट जाते है। यह इसीलिए होता है कि जो संसार का क्रम है वह अन्तिम और सर्वोपरि सत्य नही है। इस संसार में जो भिन्नता और अनेकता हमें नज़र आती है वह असत्य है क्योंकि वह वास्तविक सत्य की प्रकृति नही है। यह सत्य है कि संसार के साधारण अनुभवो को सत्य मान कर हम उनके मुताबिक अपना दैनिक कार्यक्रम चलाते है और संसार के जो अनुभव हमको होते है उनमें भी क्रम, नियम व विधि होती है परन्तु वे वास्तविक सत्य की प्रकृति से भिन्न होते है। वे सत्य तब ही तक है जब तक कि हमको ब्रह्म का साक्षात्कार नही होता है। ज्योही हमको ब्रह्म का सच्चा रूप दिखाई देता है संसार का यह मिथ्या रूप नष्ट हो जाता है। केवल एक ही सत्य-ब्रह्म की अनुभूति रह जाती है जो सच्चिदानन्द रूप है। [३]

प्रत्येक युग के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने मूल्योंको निर्धारित करे। जो समाज पुराने मूल्यो को वैसे के वैसे ही अंगीकार कर लेता है वह गतिशील नही रहता। गतिशील समाज के लिये यह आवश्यक है कि जीवन के मूल्यो का निरन्तर पुनर्निर्माण होता रहे। हमको यह देखना पडेगा कि हिन्दू समाज के इन परम्परागत मूल्यो को व विचारो को किस रूप में आधुनिक काल में हम अपने जीवन में अंगीकार कर सकते है।

जिस तरह अन्तर ज्ञान को हमने सत्य की खोज के लिये प्रधानता दी है उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता ने तर्क और बुद्धि को प्रधानता दी है। इसलिये हम देखते है कि पश्चिम में जो नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्श प्रयोग सिद्धि के अनुभव पर आधारित नही होते उन्हे महत्व

---

३. Surendranath Dasgupta: A History of Indian Philosophy, Vol. I, pp. 439–441.

प्राप्त नही होता और जो प्रयोग-सिद्ध सिद्धान्त होते है उनके बारे मे नई खोज और जिज्ञासा बनी ही रहती है। ज्यों ज्यो यथार्थता का नया ज्ञान होता जाता है त्यो त्यो सिद्धान्त बदलते जाते है। पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में इस प्रकार का पुनर्निर्माण हम निरन्तर देखते है चाहे वह विज्ञान हो, दर्शन हो अथवा धर्म तथा अन्य सामाजिक मूल्य हो। यथार्थता के आधार पर एक सिद्धान्त बनाया जाता है और फिर उससे तर्क द्वारा कुछ परिणाम निकाले जाते है। इन परिणामो का फिर विश्लेषण होता है। सिद्धान्त निरूपित किये जाते है, उन सिद्धान्तो की प्रयोग द्वारा जाँच की जाती है और उसके अनुसार सिद्धान्तो का परिवर्तन और पुनर्निर्माण होता रहता है। इस तरह हम देखते है कि पश्चिमी सभ्यता का आधार सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक है। ४

यहाँ हम यह मान लेते है कि विश्व मे बहुतसी बाते अभी ऐसी है जो हमको वैज्ञानिक ढग से अथवा तार्किक विश्लेषण से मालूम नही हुई है और हम यह भी जानते है कि विज्ञान के पिछली शताब्दी के निर्णय और निष्कर्ष सब बदलते जा रहे है। विज्ञान की नई खोजें सकेत करती है कि पदार्थ, भौतिकवाद तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रश्न आदि सब के बारे में विज्ञान के पुराने विचार बदल गये है और इनके बारे में नई दृष्टि से सोचना आवश्यक है। यह भी सम्भव है कि विश्व के कई प्रश्नो के बारे मे हमको आज कोई निश्चित उत्तर नही मिलता परन्तु यह कोई कारण नही है कि हम बुद्धि का व विज्ञान का सहारा छोड दे। सौ वर्ष पहले जो बहुत से रहस्य आध्यात्मवाद के अंधकार में छिपे थे आज हमको वैज्ञानिक तार्किक विश्लेषण द्वारा स्पष्ट मालूम पडते है। हम यह नही कह सकते कि समय, स्थान मन और भौतिक पदार्थ इत्यादि जटिल प्रश्नो के बारे में कोई निश्चित

४. F. S. C. Northrop The Meeting of East and West, pp 296–300.

उत्तर मिल गया है। परन्तु हम यह कह सकते है कि कुछ ऐसा तरीका हमने निकाल लिया है जिसके द्वारा हम निरन्तर वैज्ञानिक सत्य के पास पहुँचते जा रहे है।

जहाँ हम वास्तविकता की खोज के लिये अन्तर्ज्ञान का सहारा लेते हैं और तर्क तथा प्रयोग द्वारा अपने अनुभवों को सिद्ध नही कर सकते वहाँ हमेशा यह खतरा रहता है कि हम सत्य और असत्य में फर्क न कर सकें। अनुभूति व्यक्तिगत होती है और व्यक्ति ही इसकी जाँच करता है। वह अनुभूति न दूसरों को बताई जा सकती है न उसको प्रमाणित किया जा सकता है। ऐसी दशा में हम यही कह सकते है कि जो अनुभूति द्वारा वास्तविकता का ज्ञान होना मानते हैं उनकी बात का खंडन नहीं करना चाहते है पर इस दशा में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक ज्ञान चाहे अनुभूति को सत्य-प्राप्ति का साधन मानता रहे, व्यावहारिक जीवन में हमको इसकी कोई आवश्यकता नही मालूम होती कि हम बुद्धि व विज्ञान के रास्तो को छोडकर किसी दूसरे रहस्यमय मार्ग से सत्य को प्राप्त करें।

इसी तरह हम दखत है कि पश्चिम में जिन दार्शनिक स्वतन्त्र विचारों का विकास हुआ है उसकी बुनियाद व्यक्तिवाद है। जब डेकार्टे ने निश्चयात्मक रूप से यह कहा कि मैं विचार करता हूँ इसलिये मैं हूँ: तभी से ज्ञान की बुनियाद प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न हो गई क्योकि व्यक्ति के लिये विचार करने का दृष्टिकोण अपना ही अस्तित्व था न कि दूसरे व्यक्तियो का या समाज का। इस तरह डेकार्टे के इस अन्तरावलोकन को विचारों की कसौटी माननेसे व्यक्तिवाद को और दृढ़ता मिली। डेकार्टे के बाद पश्चिमी दर्शन में बौद्धिक व्यक्तिवाद कम या अधिक मात्रा में रहा है। ५

---

५. Bertrand Russell: The History of Western Philosophy, pp. 622-623.

इसके वाद लॉक ने व्यक्तिवाद की और पुष्टि की, उसने कहा कि व्यक्ति विलकुल स्वतन्त्र और स्वाधीन है। व्यक्ति ही अपने अन्तरावलोकन के आधार पर यह निश्चय करेगा कि उसका धर्म सही है या गलत। मानसिक पदार्थों में अर्थात् पुरुषो में कोई ऐसा तत्व नही है कि जो एक दूसरे में किसी प्रकार का सम्वन्ध स्थापित कर राज्य की आवश्यकता को सिद्ध कर सके। लॉक के दो वुनियादी सिद्धान्त थे: १. सव व्यक्ति विलकुल स्वतन्त्र और वरावर है २. राज्य की उत्पत्ति और वुनियाद शासितो की इच्छा पर निर्भर है। पश्चिमी सभ्यता की वुनियाद; विशेषकर सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की, इस व्यक्तिवाद के सिद्धान्तो पर आश्रित है। ६

इसलिये हम देखते है कि पश्चिमी लोकतन्त्रो में यह विचार वरावर रहा है कि व्यक्ति समाज में विलकुल समा नही जाता है और समाज भी व्यक्ति का पूरा लेखा नही दे सकता है। कुछ अर्थो में व्यक्ति सदैव अपने आपको समाज से अलग रखता है। यदि वह समाज में पूर्णतया मिलना भी चाहे या समाज को अपना आत्मसमर्पण कर दे तव भी वह अपना व्यक्तित्व कायम रखता है। व्यक्ति जीवित पदार्थो के सूक्ष्म कोषो की तरह नही है परन्तु वह हमेशा स्वतन्त्र रूप से अपने आप को गति देता है। जव वह समाज के लक्ष्यो को पूरा करता है उस समय वह अपने लक्ष्य को भी प्राप्त करता है। वह जव और लोगो से मिलता है उस समय भी उसका व्यक्तित्व अलग ही रहता है। उसके अपने लक्ष्य, भावनाएं, और विचार होते है जो समूह के साथ मेल नही खाते। हममें छोटे से छोटे और वड़े से वडे व्यक्ति का निजी जीवन होता है। ७

---

६. F. S. C. Northrop: The Meeting of East and West, pp. 70–102.

७. R. M. MacIver: The Web of Government, pp 412.

यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पश्चिमी सभ्यता का आधारभूत स्तभ रहा है। हम लोग पश्चिमी सभ्यता के आधार पर अपना लोकतन्त्र कायम कर रहे है अत. हमको यह विचार करना पड़ेगा कि हमारे दर्शन में जहाँ व्यक्ति का कोई अलग अस्तित्व नहीं है और पश्चिमी सभ्यता में जहाँ व्यक्ति ही सभ्यता की बुनियाद की इकाई है, कैसे मेल बैठेगा।

एक आशाजनक बात तो यह है कि पश्चिम मे जो नये व्यक्तिवाद का विकास हो रहा है वह पुराने व्यक्तिवाद से भिन्न है। वहाँ का व्यक्तिवाद स्थिर नही है, वह गतिशील रहा है। नये व्यक्तिवाद का यह विश्वास है कि व्यक्ति की मानसिक व नैतिक बनावट, उसकी इच्छाएँ और उद्देश्य सामाजिक संगठन में परिवर्तन होने से बदलते रहते है। जो व्यक्ति किसी संगठन में, चाहे वह घरेलू, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक अथवा शिक्षा सम्बन्धी हो, बँधा हुआ नही है वह मानव नही दैत्य है। जो बन्धन मनुष्यो को बाँधते है वे केवल बाहरी ही नहीं है पर उनका असर मनुष्य के चरित्र और मन पर पड़ता रहता है। नया व्यक्तिवाद समाज को तथा विज्ञान और मशीन को स्वीकार करता है। संगठित समाज और मशीन से दूर भागने मे मनुष्य की आधुनिक समस्या हल नही होती परन्तु उसको जीवन में अंगीकार करने से और उसका अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये उपयोग करने से ही उसका हल संभव है। जिस नये समाज का हम निर्माण करना चाहते है उसका आधार न तो पुराना पश्चिमी स्वतन्त्र व्यक्तिवाद हो सकता है जहाँ कि सारा समाज केवल व्यक्ति के लाभ और विकास के लिये स्थित है और न भारतीय समाज व्यवस्था जहाँ व्यक्ति का कोई अलग व्यक्तित्व ही नही है। हमको व्यक्ति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्वीकार करते हुये भी यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति का सच्चा विकास समाज के द्वारा ही हो सकता है। व्यक्ति अपनी पूर्णता समाज से अलग होकर नहीं वरन समाज में रहकर ही प्राप्त

कर सकता है । व्यक्ति और समाज दोनो एक दूसरे पर निर्भर है । जहाँ व्यक्ति केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि और लोभ की प्राप्ति में लग जाता है वहाँ वह समाज को तो हानि पहुँचाता ही है पर उसी के साथ वह अपने आप भी गिरता है । परन्तु जहाँ मनुष्य समाज के स्वस्थ मूल्यो की सिद्धि के लिए अपने आपको मिटा देता है वहाँ वह अपना आत्म विकास करता है और पूर्णता की तरफ बढता है ।[८]

ससार की निरर्थकता और मायावाद के प्रति भी जो हमारा दृष्टिकोण है उसको बदलना पडेगा। आधुनिक मनुष्य को इस विश्वास से शान्ति नही होती कि यह दुनिया केवल माया है । आज जो मनुष्य निर्धन, भूखे, नगे और दुखी है उनको हमारे दर्शन का यह कथन कि इस दुनिया मे वास्तविकता नही है, सान्त्वना नही दे सकता । आधुनिक समाज मे कोई भी सत्य यदि हमको बार बार चुनौती दे रहा है तो वह यह है कि मनुष्य का सुख, जिसमे आध्यात्मिक सुख भी सम्मिलित है, विना जीवन की आवश्यक वस्तुओ के प्राप्त नही होता । जहाँ गरीबी और भूख है वहाँ धर्म और सस्कृति का विकास नही हो सकता । इसलिये हमको यह स्वीकार करना पडेगा कि ससार की वास्तविकता से हम दूर नही हो सकते है । ससार को यदि हम मिथ्या मान लेते है तो हम को विज्ञान तथा उसके द्वारा आविष्कृत सुख सुविधाओ से विमुख हो जाना पडेगा और तब एक बडा नुकसान यह होगा कि हमारा वह आत्म-विश्वास खत्म हो जायगा जोकि हमने वैज्ञानिक साधनो द्वारा प्रकृति और वातावरण पर आधिपत्य जमाकर प्राप्त किया है । इसका अर्थ हुआ अपनी आधुनिक समस्याओ और समाज संगठन से उदासीन होना ।

---

८. John Dewey: Individualism Old and New, pp 81–83.

यहाँ हम भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते क्योंकि विज्ञान स्वयं इस विषय में अभी निश्चित रूप से अपना मत प्रकट नही कर पाया है । सापेक्ष सिद्धान्त (Theory of Relativity) तथा परिणाम सिद्धान्त (Quantum Theory) द्वारा मतों में आमूल परिवर्तन होता जा रहा है । विज्ञान के पुराने विचारों की यह धारणा अब बदलती जा रही है कि संसार मन से बिलकुल स्वतन्त्र है और चाहे यह मनुष्य को इन्द्रीयगोचर हो या न हो यह सदैव कायम रहता है । जिसको पहले भौतिक पदार्थ समझा जाता था वह आज विज्ञान द्वारा मन के गुणों के अधिक नजदीक पाया जाता है । ९

हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते है कि जिस वातावरण में हम रहते है वह चाहे भौतिक हो, मानसिक हो या दोनो ही का सम्मिश्रण हो, हमको उसे ध्यान में रखता पड़ेगा । जीवन का विकास वातावरण से विमुख होने से नही परन्तु उसको अपने वश में करने से अथवा उसके साथ मेल बिठाने से ही सम्भव है । किसी भी अवस्था में उससे विमुख होना या उसे मिथ्या समझना अपने विकास में रुकावट डालना है ।

समाज की और व्यक्ति की उन्नति के तीन स्तर है । जाति की विरासत और देन को उन्नत करना, आर्थिक तथा शिल्पकला सम्बन्धी उन्नति करना और इन दोनो को नैतिक तथा धार्मिक मूल्यो द्वारा नियंत्रित रख कर सामाजिक हित में इनका उपयोग करना । इसी का नाम प्रगति है । मनुष्य की प्रगति आदर्श मूल्यो से आंकी जाती है । परन्तु मनुष्य के लिये उसके व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी और आर्थिक मूल्य भी आवश्यक हैं क्योंकि ये आदर्श और आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने

---

९. Sir James Jeans: Physics and Philosophy, pp. 195–204.

के साधन हैं । मनुष्य की आर्थिक और नैतिक प्रगति दोनों एक ही साथ होती हैं और मनुष्य का और समाज का विकास भी साथ ही साथ होता है । हम विकास को व्यक्ति और समूह दोनों की दृष्टि से देखते हैं । जब हम जीवन सम्बन्धी और आर्थिक मूल्यों से उठकर आदर्श मूल्यों के क्षेत्र में जाते हैं तो कभी हम व्यक्ति की दृष्टि से सोचते हैं और कभी समाज की दृष्टि से । लेकिन इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है । समाज की तथा व्यक्ति की उन्नति एकतरफा नहीं होती परन्तु वह सभी क्षेत्रों में होती है । जब हम समाज को समानता, न्याय और संगठन के आधार पर बनाने का विचार करते हैं तब आर्थिक स्तर पर अधिक से अधिक शिल्पकला सम्बन्धी व्यवस्था और उन्नति आवश्यक हो जाती है और जीवन सम्बन्धी स्तर पर जाति की अविच्छिन्नता तथा संस्कृति का अविरल प्रवाह आवश्यक हो जाता है । उसी प्रकार जब हम व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य में व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहते हैं और उसको सत्य, शिव और सौन्दर्य के गुणावगुण का ज्ञान कराना चाहते हैं तो व्यक्ति के जीवन में आर्थिक स्तर पर अधिक से अधिक आय, अवकाश, व्यय और जीवन स्तर पर अधिक से अधिक आयु, वृद्धि और जीवन में स्थिति स्थापकता [लचीलापन] और मिलनसारी आवश्यक है । कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्राप्त करने के लिये जीवन सम्बन्धी आर्थिक मूल्य अनिवार्य हैं क्योंकि ये उसके साधन हैं । १०

इस विवेचन के बाद हम एक परिणाम पर पहुँचते हैं कि आज जब हम अपने समाज का पुनर्निर्माण करने में लगे हैं तो इस बात की आवश्यकता है कि हम अपने पुराने मूल्यों का पुनर्निर्माण करें । जीवन के आदर्श मूल्य, सभ्यता और संस्कृति को बनाते हैं । समाज का पुनर्निर्माण

---

१०. Radhakamal Mukerjee: The Social Structure of Values, pp. 400–405.

विना जीवन मूल्यो के पुर्ननिर्माण के नही हो सकता है। हमारा वास्तविकता के प्रति, व्यक्तित्व के प्रति और सांसारिक जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है उसको पुनः आँकने की आवश्यकता है। ऐसे तो हिन्दू दर्शन और शास्त्र इतने व्यापक है कि जीवन के सभी अच्छे मूल्यो का उनमें समावेश है, परन्तु हमको देखना यह है कि पुरातन काल में किन मूल्यो पर विशेष जोर दिया जाता था और क्या अव इस नये युग मे उनको वदलने की आवश्यकता है। उनमें आदर्श कितना था, क्यो था, और आज यथार्थ स्थिति क्या है? हम इस नतीजे पर पहुँचे है कि जीवन के आदर्श मूल्यो को प्राप्त करने के लिए स्वस्थ और समृद्ध सामाजिक जीवन आवश्यक है। वह आदर्श को प्राप्त करने का शक्तिशाली सावन है और आज के युग में विना विज्ञान के और वैज्ञानिक तरीको के ये सावन प्राप्त नही हो सकते है। व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो हमारे जीवन के भिन्न भिन्न अंगो में एकीकरण नही है। हमारे आदर्शो में और व्यवहार में मेल नही है। विचारो मे हम आध्यात्मवादी और व्यवहार में भौतिकवादी है। आवश्यकता इस वात की है कि हम दोनो का अपने जीवन में समावेश कर लें और एक को दूसरे का परिशिष्ट समझ लें।

शिक्षा इस नये आदर्श को प्राप्त करने मे सहायक हो सकती है। शिक्षा संस्कृति की वाहक ही नही परन्तु संस्कृति की निर्माता भी है। शिक्षा द्वारा संस्कृति का पुर्ननिर्माण होता रहता है।

भारतवर्ष में पुरातन काल के मूल्यो को प्राप्त करने के लिए वहुत सुन्दर शिक्षा पद्धति वनाई गई थी। उस समय सत्य को वौद्धिक रूप मे प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य नही था। ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनन आवश्यक था, लेकिन सच्चा ज्ञान निदिध्यासन द्वारा ही मिल सकता था। वेद, इतिहास, पुराण और अन्य शास्त्रो के अध्ययन इत्यादि से मनुष्य को सच्चा सुख प्राप्त नही हो सकता था, सच्चा सुख और मुक्ति तो ब्रह्म के साक्षात्कार मे ही मिल सकती थी। यही कारण था कि शहर

से दूर, मनुष्यों की वस्ती से दूर उपवनो में गुरुकुल हुआ करते थे। शहरों और समाज में रहकर मनुष्य अपनी असली आत्मा को खो देता था। आत्मा का सच्चा दर्शन करने के लिए यह आवश्यक था कि वह प्रकृति के पास रहे। एकाग्रता और ध्यान के लिए यह आवश्यक था कि वह समाज की उलझनों से मुक्त रहे। पर आज क्या यह स्थिति सम्भव है? ११

नये समाज के लिए यह आवश्यक है कि स्कूल व समाज में जो भेद है उसे मिटा दें। स्कूल समाज का एक अंग होना चाहिये। बालक जितना ही समाज के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करता है उतना ही वह सामाजिक जीवन के लिए अपने आप को तैयार करता है। स्कूल समाज के स्वस्थ जीवन और दर्शन का प्रतिविम्ब है। स्कूलो को यदि हम समाज से अलग रखें तो वे आधुनिक काल मे निर्जीव और अप्रगतिशील हो जांयगे और समाज का नेतृत्व करने का कर्तव्य पूरा नहीं कर सकेंगे। समाज में रहने से व्यक्तित्व नष्ट भ्रष्ट नही होता, वरंच व्यक्तित्व की सम्पूर्ण सिद्धि समाज में रहकर और सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

हमारे समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने के लिए भी हमको शिक्षा में काफी सुधार करना पडेगा। शिक्षा के जितने भी विषय हैं उनको वैज्ञानिक ढग से समझने और समझाने की आवश्यकता है। हमारे देश में पुरानी सभ्यता होने के कारण रूढि और परम्परा का बडा जबरदस्त असर रहा है। जो भी ज्ञान हमको पुस्तकों द्वारा मिलता है उनको हम ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उस ज्ञान के प्रति संदेह तथा अनुसन्धान की वृत्ति हममें कम है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह नही कि हमको विश्वास पर नही चलना चाहिए पर हमको अपने विश्वासों की परीक्षा करने के लिए और उन्हें प्रमाणित करने के लिए तैयार रहना चाहिये। हमारे

---

११. Radha Kumud Mukerjee. Ancient Indian Education pp. 21-24.

धार्मिक और दार्शनिक जितने भी मत है उनको प्रयोग और अनुभव से पुष्ट तथा परिवर्तित करते रहना चाहिये। यह आधार स्वीकार करने से ही हमारे समाज की प्रगति हो सकती है। स्कूलो में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण लाने के लिये केवल विज्ञान पढना ही काफी नही है परन्तु हमारी साधना का मार्ग भी वैज्ञानिक होना चाहिए अर्थात् विद्यार्थियो को सब विषय उसी ढंग से पढाये जाने चाहिये, जिस तरह विज्ञान का अध्ययन होता है। प्रायः हम विज्ञान में और मानव सम्बन्धी विषयो (Humanism) में भेद करते है। हमारी दृष्टि से यह भेद अवांछनीय और अप्राकृतिक है। सत्य चाहे अर्थ शास्त्र, साहित्य, राजनीति अथवा कला में हो, उसको प्राप्त करने की एक ही विधि है और वह है वैज्ञानिक विधि। किसी भी क्षेत्र में हम बिना प्रमाण के अथवा प्रयोग के सिद्धान्त को स्वीकार न करें उसी का नाम वैज्ञानिक विधि है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने से दर्शन और विज्ञान में जो भेदभाव आज बना हुआ है और जिसके कारण आज दुनिया में बहुत अशान्ति बनी हुई है वह मिट सकती है। यदि आज मनुष्य समाज एक हो सकता है और उसके मतभेद मिट सकते है तो वह विज्ञान के आधार पर ही हो सकता है क्योकि विज्ञान का पथ विश्वास और खोज पर अवलम्बित है। १२

ऊपर हम बता चुके है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने में अध्यापक और स्कूल बहुत मदद कर सकते है यदि वे स्कूल का वातावरण वैसा रखें और अध्यापन का काम उसी दृष्टिकोण और नैतिकता से चलावें जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण ने समझाया है। श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को पूरा उपदेश देने के बाद कहते है "विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु" अर्थात् जो कुछ मैने तुमसे कहा है तुम इस पर खूब मनन करो, अपनी बुद्धि और विवेक को काम में लो और उसके बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो।

---

१२. F.S.C. Northrop: The Logic of the Sciences and the Humanities, pp. 311-327 and 348-360.

यहाँ श्रीकृष्ण गीता का उपदेश देने के बाद अर्जुन को यह आदेश देते है कि सत्य की खोज उसे स्वय करनी चाहिए। न तो स्वभाव से और न किसी के प्रभुत्व या अधिकार से किसी विश्वास को बनाना चाहिये। यहाँ श्रीकृष्ण इस बात पर जोर देते है कि हमारे विश्वासो की बुनियाद विचारयुक्त तथा प्रयोगात्मक होनी चाहिये। अर्जुन को यह अनुभव होना चाहिये कि जो भी विचार है वे उसी के है और किसी गुरु ने उसके ऊपर नही लादे है। यह विचारयुक्त तथा प्रयोगात्मक वैज्ञानिक विधि जब हमारे शिक्षालयो में और शिक्षण पद्धति मे प्रवेश कर लेगी तभी हम नये समाज का और नये मूल्यो का निर्माण कर सकेंगे। १३

---

१३. S Radhakrishnan : Bhagvad Gita, pp. 375-376

शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा का संस्कृति से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा का एक काम यह है कि वह मनुष्य को सुसंस्कृत बनावे। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में उन गुणों को पुष्ट किया जाता है जिनको समाज बहुमूल्य समझता है। प्रत्येक समाज के कुछ विचार और आदर्श होते हैं जिनको वह पुष्ट करता है तथा उनका प्रचार करता है। समाज के हाथ में शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वे विचार और आदर्श प्रचलित किये जाते हैं जिनको समाज महत्त्व देता है।

इस दृष्टि से संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। सभ्यता जीवन के वे सब मूल्य हैं जो हमको समाज से विरासत में मिले हैं। समाज के ये ही मूल्य जब व्यक्ति विशेष के जीवन में समा जाते हैं तथा अभिव्यक्ति पाते हैं तब उन्हें हम संस्कृति कहते हैं। सभ्यता समाज की विरासत है और संस्कृति उसी विरासत की जीवित तथा जाग्रत् अवस्था है।

सभ्यता और संस्कृति की सम्पूर्ण व्याख्या कठिन होने के कारण विभिन्न लेखकों ने विभिन्न जीवन मूल्यों का इसमें समावेश किया है। जैसे सत्य, सौन्दर्य, सहनशीलता, विवेचनात्मक बुद्धि, शिष्टाचार, जिज्ञासा, आत्म-विश्वास आदि का होना और अशिष्टता, निर्दयता, अतिशयोक्ति, अन्ध-विश्वास, मिथ्याविनय आदि का अभाव। १४

परन्तु सभ्यताओं के इतिहास का यदि हम अध्ययन करें तो हमको ज्ञात होगा कि संस्कृति का तथा समाज की आर्थिक-व्यवस्था का पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। समाज में किस समय कौनसे मूल्यों पर अधिक जोर

---

१४. G. S. Ghurye: Culture and Society. pp. 16-20

दिया जाता है यह बहुत कुछ उस समाज की आर्थिक—व्यवस्था पर निर्भर रहता है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिये हमको अपनी आधुनिक संस्कृति और समाज व्यवस्था से उदाहरण मिल सकता है। आधुनिक समाज में हम देखते हैं कि व्यक्तिवाद पर विशेष जोर दिया जाता है। शिक्षा में, धर्म में, विज्ञान में और जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व के विकास पर जोर रहा है। यदि हम यह कहें कि हमारी आधुनिक संस्कृति व्यक्तिवाद पर ही स्थित है तो गलत नही होगा। क्या कारण है कि हमारी आधुनिक संस्कृति में व्यक्तिवाद पर इतना जोर रहा है। इसकी जाँच करने के लिये हमको पिछली शताब्दी की तरफ देखना पडेगा। इस शताब्दी की समस्याएँ हमको पिछली शताब्दी से विरासत में मिली हैं। उन्नीसवी शताब्दी का विशेषकर जीवन में एक ही दृष्टिकोण रहा था और वह था लाभ-प्राप्ति। हमारी संस्कृति धन की संस्कृति बन गई और प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ही लक्ष्य बन गया और वह है अधिक-से-अधिक धन उपार्जन करना। इस कारण यह स्वाभाविक है कि व्यक्तिगत लाभ की यह आकाक्षाएँ एक व्यक्तिवादी दर्शन और संस्कृति को जन्म दें। हमारे समाज में आज प्रतियोगिता और परिग्रह की जबरदस्त प्रवृत्तियां मौजूद हैं।

विज्ञान ने हमारे सामाजिक जीवन को परिवर्तित तो किया है लेकिन हमको अभी तक नये, बुद्धि प्रधान, जीवन-मूल्य नहीं दिये हैं। विज्ञान द्वारा समाज को अनमोल मोती मिले हैं, लेकिन समाज उनको परख नहीं सका और उनका दुरुपयोग किया गया। वास्तविकता यह है कि विज्ञान स्वयं ही व्यक्तिवाद का शिकार होकर चन्द लोगों के हित की चीज बन गया। विज्ञान ने बडे-बडे आविष्कार किये हैं, लेकिन उनका परिणाम क्या हुआ? साधारण जन को विज्ञान से अभी तक कोई लाभ नहीं मिला। हमारी आधुनिक संस्कृति की, जो औद्योगीकरण के वातावरण में बन रही है, सबसे बड़ी खराबी यह है कि विज्ञान ने पुराने मूल्यों

को तो नष्ट कर दिया है लेकिन नये मूल्यों की स्थापना नहीं की है। इसका परिणाम समाज और संस्कृति के लिये हितकर नहीं है।

आज के युग में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम नये मूल्यों का निर्माण करें। उन मूल्यों का निर्माण करने के लिये सबसे पहले हम यह पहचान लें कि हमारा जीवन सामाजिक और सामूहिक है। इस युग में जो व्यक्ति समाज से अलग रहता है अर्थात् समाज से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा समाज के विकास में जो अपना विकास नहीं समझता उसके लिये समाज में कोई स्थान नहीं है। पुराने व्यक्तिवाद को छोड़कर हमको व्यक्तिवाद के उन नये मूल्यों को ढूंढना पड़ेगा जिनका समाज के साथ पूर्ण सामंजस्य हो। इसका मतलब यह है कि बिना व्यवस्थित सामाजिक योजना के हम व्यक्ति को उसके उचित स्थान पर वापस नहीं ला सकते।

समाज की नई व्यवस्था का एक रूप यह होगा कि संस्कृति और समाज की अर्थ-व्यवस्था में भेद नहीं होगा। सत्य और सौन्दर्य की उपासना समाज और जीवन से पृथक होकर नहीं वरन् समाज और जीवन में ही हो सकेगी। सभी सभ्य-वर्गों को यह जानना चाहिये कि सच्ची संस्कृति का विकास जीवन के संघर्ष से होता है न कि जीवन व समाज से विमुख होने से। जो सबसे अधिक संस्कृत और सभ्य व्यक्ति रहे हैं वे सबसे अधिक जीवन के भी निकट रहे हैं। यह हमारी संस्कृति के पतन की निशानी है कि हम यह समझने लगे है कि संस्कृति का मजदूरी से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार मेहनत और मजदूरी कला और सौन्दर्य से रहित नहीं होगी, परन्तु उसी का एक अंग बन जायगी। प्रारम्भ से ही श्रम और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सभ्यता का जब विकास हुआ उस समय उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का अच्छा सम्मिश्रण था। उत्पादन कार्य और कला में पारस्परिक सम्बन्ध था। मनुष्य ने स्वार्थवश इस सम्बन्ध को तोड़ दिया और कला चन्द लोगों के अधिकार की वस्तु हो गई और बाकी

लोग अन्धकार में पशु जीवन विताने लगे। १४

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि समाज को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करे तो संस्कृति को ठेस तो नहीं पहुँचेगी, क्योंकि संस्कृति स्वतन्त्रता के वातावरण में ही पनपती है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि संस्कृति का सच्चा विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में ही होता है, लेकिन व्यवस्था और स्वतन्त्रता में विरोध नहीं है। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था से लोगो की स्वतन्त्रता हरण नहीं होगी परन्तु ज्यादा स्वतन्त्रता मिलेगी। जो लोग असामाजिक प्रवृत्तियो में लगे हुए हैं और अपने लिये धन संचय करने में समाज का अहित कर रहे हैं उनकी स्वतन्त्रता को तो अवश्य आघात पहुँचेगा, परन्तु व्यवस्था से जनसमुदाय को लाभ पहुँचेगा और एक सच्ची संस्कृति का विकास हो सकेगा।

इसलिये यह शिक्षा का काम है कि जो सभ्यता हमको विरासत में मिली है उसको संस्कृति के रूप में परिणत करे। सभ्यता और उसके मूल्य चाहे कितने ही ऊँचे हो, यदि वे व्यक्तिगत रूप से अंगीकार नहीं किये जाते तो किसी काम के नहीं हैं। यदि हम सभ्यता को जीवित रखना चाहते हैं तो शिक्षा के काम को गहराई से देखना पडेगा और विस्तार से उसका प्रचार करना पडेगा। आज शिक्षा का यह भी काम है कि जीवन के लिए उन नए सांस्कृतिक मूल्यो का निर्माण करे जिनकी समाज को आवश्यकता है। वह हमें इसके लिए तैयार करे कि विज्ञान का युग जो हमको नई चुनौती दे रहा है, उसका हम मुकाबला करने में समर्थ हो। हमको अपने पुराने विचार, पुरानी रूढ़ियाँ, पुरानी सामाजिक संस्थाएँ बदलनी पडेंगी और नये विचार, नई प्रथायें और नई सामाजिक संस्थाएँ कायम करनी पडेंगी। नये युग के लिए नई संस्कृति बनाना शिक्षा का सर्व प्रथम काम है।

---

१४. John Dewey. Individualism Old and New pp 121–145

भारतीय संस्कृति संकट में

आज का भारतीय समाज एक विषम परिस्थिति में फँसा हुआ है। हर वस्तु में परिवर्तन हो रहा है। धर्म, नैतिकता, आदतो, रस्म-रिवाजों, उद्योग-व्यवसाय आदि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रो में सघर्ष दिखाई पड़ रहा है। अब तक की प्रतिपादित जीवन प्रणाली मानो जड़ से हिल गई है और समाज में आज उस व्यवस्था और सामंजस्य की कमी है जिसके फलस्वरूप एक संतुलित समाज का निर्माण होता है। एक ओर तो परम्परा से चले आये नैतिक मूल्यो में लोगो का जरा भी विश्वास नही रहा है, दूसरी ओर उनके स्थान पर नये मूल्यो की अभी स्थापना नही हो पाई है। राष्ट्र के इतिहास में समाज को इतनी भयंकर चुनौती शायद कभी नही मिली। राष्ट्र का भविष्य इसी बात पर निर्भर है कि वह इस चुनौती का सामना किस प्रकार करता है, संघर्षो को कैसे दूर करता है और नई परिस्थिति को किस प्रकार अपने अनुकूल बनाता है।

इस चुनौती का सामना किस प्रकार किया जाय? राष्ट्र के इस सास्कृतिक संकट को कैसे दूर किया जाय? इन प्रश्नो का उत्तर देने से पूर्व हमको उन संघर्षो का विश्लेषण करके देखना है जो हमारे सामने आज उपस्थित है।

हमारे सामाजिक जीवन के मुख्य संघर्षो का एक कारण है धर्म की ओर हमारा परिवर्तित दृष्टिकोण। भूतकाल में धर्म का हम पर विशेष प्रभाव रहा है और धर्म के द्वारा ही हमको सासारिक और आध्यात्मिक सभी कार्यों में मार्ग दर्शन मिला है। कुटुम्ब, सामाजिक और राजनैनिक संस्थायें, कला, नैतिकता, अथवा साहित्य-जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं

है जिस पर धर्म का प्रभाव न रहा हो और जिसके बनाने में धर्म का हाथ न हो। धर्म के द्वारा हम में सुरक्षा की भावना पनपी और जीवन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण हमें प्राप्त हुआ। इस संसार को हमने माया समझा और वास्तविक सत्य को इससे दूर, दूसरी दुनिया की वस्तु। हमने कार्य-शील जीवन की अपेक्षा मनन-पूर्ण जीवन को उच्च समझा। सांसारिक सुख और वस्तुओं के संग्रह को, शरीर को जीवित रखने मात्र के लिए आवश्यक परन्तु हीन समझा। जीवन का वास्तविक लक्ष्य था मोक्ष अर्थात् आत्मा को सांसारिक आसक्ति से मुक्ति।

आज के समाज में लोग इस धार्मिक भावना से दूर हटते जा रहे हैं। इसके अनेक कारण हैं। लोगों का धर्म पर से विश्वास उठ रहा है उनका मुख्य कारण यह है कि वे देखते हैं कि सच्चाई से किये हुए कठिन परिश्रम का कोई मूल्य नहीं है। सच्चाई से परिश्रम करनेवाले निर्धन और रोगी दिखाई पड़ते हैं, उनको खाने तक को पूरा नहीं मिलता। इसके विपरीत जो धनाढ्य हैं, उनको पड़े पड़े ही जीवन की सब सुविधायें प्राप्त हैं और इतना समय मिलता है कि वे उसे विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक विकास में व्यय कर सकते हैं। जब इस संसार में ही इतना अन्याय है तो दूसरी दुनिया में न्याय मिलेगा इसकी आशा एक व्यक्ति कैसे रख सकता है? आज का मजदूर और किसान उस धर्म में संदेह करता है जो इस संसार में ही उनको सुखी नहीं बना सका। वह भला मृत्यु के पश्चात् दूसरे संसार में उन्हें कैसे सुखी बना सकेगा। आध्यात्मिक विषयों में रस लेने के पूर्व तो उनको भोजन, कपड़ा और सुरक्षा का स्थान उपलब्ध होना चाहिए।

तब क्या भारत आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी धार्मिक परम्परा का त्याग करदे अथवा आध्यात्मिक और सांसारिक मूल्यों में नया सामञ्जस्य स्थापित करे? राष्ट्र का भविष्य हमारे जीवन के नवनिर्माण पर ही निर्भर है। धर्म जाति-पांति, कट्टरता और ऊँच-नीच भावनाओं

से उसे मुक्त होना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि सामाजिक मूल्यों का आर्थिक समस्या से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी अर्थ का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव और समाज का नव निर्माण करने के लिये रूढिगत और दलगत धर्म ही पर्याप्त नही है। धर्म का जीवन के सभी क्षेत्रों में गहरा प्रवेश होना चाहिए और उन सब प्रगतिशील आन्दोलनो से उसे गठबन्धन कर लेना चाहिए जो समाज को परिवर्तित करने में प्रयत्नशील है।

हमारी संस्कृति को दूसरी चुनौती लोगो के व्यवसाय में परिवर्तन के कारण है। यह एक मानी हुई बात है कि लोगो की संस्कृति का उनके व्यवसाय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। व्यवसाय का लोगों के दृष्टिकोण और उनके रहन-सहन पर गहरा प्रभाव पडता है। जाति-पाँति और ग्राम्य पचायतो के आधार पर अपना सामाजिक सगठन बनाने में हमारे व्यवसाय का बहुत प्रभाव तथा हाथ रहा है। हमारे ग्रामीण जीवन की सादगी और हस्त-कौशल की रूढियो द्वारा आतिथ्य-सत्कार, भ्रातृभाव और सहयोग जैसी सांस्कृतिक भावनायें पनपी है, जिनका व्यावसायिक समाज में साधारणतया अभाव ही रहता है। जब व्यावसायिक क्रान्ति ने भारत में पदार्पण किया तो उसने ग्राम्य संस्कृति को उखाड दिया, परन्तु उसके स्थान पर उन नये रहन-सहन के तरीको और नई आदतो का समावेश वह न कर पाई जो एक व्यावसायिक समाज के लिए आवश्यक है। इस प्रकार समाज का पुराना सगठन समाप्त हो गया और उसके साथ हमारे नैतिक मूल्यों का भी ह्रास हुआ। इनने मानव जीवन में अमानवीय तत्त्वो का समावेश हो गया।

हमारी सस्कृति का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से हम देखेंगे कि आज हमारी संस्कृति और हमारे व्यवसाय के बीच एक चौडी खाई बन गई है। संस्कृति और जीवन के इस विरोध ने समाज को छिन्न-

भिन्न कर दिया है। कुछ ही विशिष्ट व्यक्ति अपना जीवन चैन से व्यतीत करते है, पर अधिकाश लोगो को अपना जीवन यापन करने के लिए कठिन परिश्रम करना पडता है। हमारे आज के सामाजिक सघर्ष और दोषपूर्ण सामाजिक सगठन का मुख्य कारण है हमारे समाज का यही विशिष्ट और साधारण वर्ग में विभाजन। एक ओर धनिक वर्ग है जिसने अपनी कृत्रिम सस्कृति बना रखी है और दूसरी ओर वह निर्धन वर्ग है जिसके यन्त्रवत् जीवन में बौद्धिक, कलात्मक या सामाजिक प्रवृत्तियो की कोई गुजायश ही नही है। इन असमान सस्कृति और हितो के कारण इन दो वर्गो मे सदा कशमकश चलती रहती है। अत आज के सास्कृतिक सकट का निवारण करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज से यह वर्ग भेद दूर कर दिया जाय। मानव जीवन का एक भाग जीवन निर्वाह के साधन जुटाने तथा दूसरा सास्कृतिक कार्यों के लिये नही लगना चाहिए वरन् स्वयं कार्य ही सस्कृति का साधन तथा उसको निर्मित करनेवाली शक्ति होना चाहिए। कार्य से भिन्न सस्कृति की खोज करने की आवश्यकता नही होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब हम राष्ट्र के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में गहन परिवर्तन ला सकें। इसका सीधा-सा अर्थ यही है कि वे सब लोग जो आर्थिक दृष्टि से वस्तुओं के उत्पादन और वितरण करने में लगे हुए है, उनसे सम्बन्धित बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि सचालन कार्य में भी पूरा भाग ले। अत. यह सस्कृति की समस्या अधिकाश में आर्थिक समस्या ही है और इसको हल करने के लिए क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता है।

स्वतन्त्रता एक तीसरा कारण है जिसने हमारे जीवन मूल्यो को गडबड में डाल दिया है। ब्रिटिश राज्य सामान्तशाही राज्य था और लोग या तो अन्ध विश्वास के कारण या दण्ड के भय से उनकी आज्ञा मानते रहे है। राज्य नियमो को लोगो ने बुद्धिपूर्वक कभी स्वीकार नही

किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में लोगों ने असहयोग किया परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होने असहयोग के महत्व को भी समझ लिया था। मध्यम वर्ग के कुछ बुद्धिशाली लोगो के अलावा जनसाधारण ने तो अपने नेताओं के प्रभाव के कारण ही ऐसा किया था। भारत से ब्रिटिश राज्य के चले जाने और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु के कारण एक नई परिस्थिति पैदा हो गई और लोगो को फिर अपनी ही बुद्धि का सहारा लेना पड़ा। वे असमंजस में पड़ गये। पुराना आधार तो लुप्त हो गया था और नये में अभी उनका विश्वास बना नहीं था।

आज हमारे समाज के सामने जो कठिनाइयाँ है वे संक्रमण काल की कठिनाइयाँ हैं। हमारा पिछला सामाजिक संगठन एक सामन्तशाही संगठन था जिसमें जाति-पाँति की परम्परा, राजाओ और जमीदारो का अनुत्तरदायी शासन, स्त्रियो का घरो में बन्द रहना, वर्ग भेद आदि दोष और कमज़ोरियाँ थी। लोगो को अपनी बुद्धि के उपयोग का कोई अवसर ही नहीं था। इसके फल-स्वरूप लोगों में आदेशानुसार यन्त्रवत् कार्य करने की बान जम गई। अब स्वतन्त्रता मिलने पर लोगो को अपनी बुद्धि के उपयोग का अवसर प्राप्त हुआ है परन्तु पुरानी आदतों के स्थान पर नई डालना आसान नहीं है। हमको अपने विश्वासो, आदतो और चरित्र का पुनर्निर्माण करना है। अब तक लोग आज्ञापालन, अनुकरण या भावनावश मूल्यो को ग्रहण करते रहे हैं। अब जो मूल्य उन्हें ग्रहण करने है वे बुद्धिपूर्वक सोच-समझ कर करने हैं। यह एक महान कार्य है और इसका अर्थ है पूर्ण मानव का पुनर्शिक्षण।

समाज के जीवन में संक्रमणकाल सदैव ही महान संकट का समय होता है। ऐसे ही असुरक्षित और अनिश्चित समय में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उभर कर अपना स्थान व शक्ति पुनः ग्रहण करना चाहती हैं। प्रतिक्रियावादी लोग साधारण जनता को यही कह कर भुलावे में डालते हैं कि उनकी संस्कृति संकट में है। अपने निहित हितो की रक्षा के हेतु यह

प्रतिक्रियावादियो का एक नया पैंतरा होता है। ऐसे आन्दोलन ऊपर से सास्कृतिक दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनका आन्तरिक उद्देश्य होता है वर्ग भेद और विशिष्ट वर्ग को बनाये रखना और नवीन परिवर्तन का विरोध करना।

इस प्रतिक्रिया को भी ललकारा जाता है। जिन लोगो ने पुराने संगठन का शोषण सहा है वे उग्र रूप धारण कर लेते हैं और हिंसा का पथ अपना लेते हैं क्योकि उनके सामने यही एक रास्ता रहा होता है। उनका अहिंसा और हृदय-परिवर्तन की पद्धति से विश्वास उठ जाता है क्योकि वे जानते हैं कि उनकी न्याय संगत मांगो को भी पशुबल से दबा दिया जायगा। ऐसी ही परिस्थिति में कई युवक इस विचारधारा के बन जाते हैं कि जनतन्त्रात्मक पद्धति से सामाजिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता, वह हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

आज हमारे देश में ये दोनो प्रवृत्तियां मौजूद हैं। एक ओर कुछ ऐसे लोगो का शक्तिशाली दल है जो संस्कृति की आड़ में जातीय सिद्धान्तो पर समाज का संगठन करना चाहता है और अल्पसंख्यको के विरुद्ध घृणा की भावनायें फैलाता है। उनकी विचारधारा, अर्ध सैन्य-संगठन और विचित्र सास्कृतिक दृष्टिकोण को लेकर, जर्मनी के नाजी आन्दोलन के समान ही है।

दूसरी ओर ऐसे युवको का दल है जो समाज का सामाजिक तथा आर्थिक संगठन हिंसात्मक पद्धति से एकदम बदल देने को लालायित है। इस कार्य में उनकी पद्धति भले ही गलत हो परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उनका उद्देश्य समाज का सुन्दर पुनर्निर्माण करना है।

इस प्रकार हमारे प्रजातन्त्र पर दायी और बायी दोनो ओर से प्रहार हो रहा है और हमारी सुरक्षा इस पर निर्भर है कि हम उनका सामना कैसे करते हैं। लोगो में जो असतोष फैला हुआ है उसका एक मुख्य

कारण है विभिन्न वर्गों में धन का असमान विभाजन। वर्तमान सामाजिक उथल-पुथल के पीछे सामाजिक न्याय की माँग है और जब तक यह माँग पूरी नही हो जाती सामञ्जस्य और शान्ति सम्भव नहीं। हमारे रूढिगत मूल्यों का संरक्षण जनतन्त्र की विस्तृत भावना पर अवलम्बित है। अब तक जनतंत्र ने राजनैतिक स्वतन्त्रता पर ही ध्यान दिया है। यदि हम समाज से हिंसा और अराजकता को बिलकुल हटा देना चाहते है तो हमारे जनतन्त्र को अपने नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को भी निश्चित करना होगा।

दूसरा कार्य जो हम इस चुनौती का सामना करने के लिए कर सकते है यह है कि हम अपने जनतन्त्र को अधिक शक्तिशाली बनाएँ। यह सत्य, अहिंसा, सहयोग, व्यक्तित्व का सम्मान, सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता आदि उन उत्तम गुणो से उदासीन नही रह सकता जो एक जनतान्त्रिक समाज का मूलाधार है। जिन मूलभूत मूल्यो को हम सब स्वीकार कर लेते है उनको विकसित करने के लिए हमको सब सामाजिक और शिक्षात्मक साधनो का उपयोग करना चाहिए।

हमारे देश में जनसाधारण को सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नही है। उनको तो अपने जीवन निर्वाह का साधन मिल जाना चाहिए। उसके बाद कोई भी राज्य करे इसकी उनको कोई चिन्ता नही। यह स्थिति भयावह है और तानाशाही के पनपने के लिये उपयुक्त भूमि तैयार करती है। जनतन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि लोगो का अज्ञान दूर हो और वे इसके मूल्य को समझें। कार्य अवश्य ही कठिन है परन्तु इसे विश्वास, साहस और विचारपूर्वक करने से सफलता मिल सकती है। यदि हम अपनी पूरी शक्ति लगादें तो यह संकटकाल महान सामाजिक पुनर्निर्माण का काल सिद्ध हो सकता है।

आज हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा है। हमारे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य संकट में पड़े हैं। यदि हम इसके कारणों को समझने और उनका निवारण करने का साहसिक प्रयत्न करें, मूल्यों का पुनर्निर्माण करें, और जनतान्त्रिक पद्धति से उनको लोगों तक पहुँचावें और उन्हें समझावें कि सबके हितार्थ उनके प्रति उन्हें सच्चे रहना है तो हमारा यह संकट सफलतापूर्वक टल सकता है।

भारतीय लोकतन्त्र और उसकी रक्षा

भारतवर्ष में जनतन्त्र को हमने अपना लक्ष्य वनाया है तो इस वात की जरूरत है कि हर वक्त हम यह परीक्षा करते रहें कि हम इस लक्ष्य पर कहाँ तक पहुँच पाये है। अपनी सफलता और नाकामयावी दोनों को आँकने की जरूरत है। एसा करने के लिये हमको भारतीय जनतन्त्र के नैतिक और मानसिक आवारो और लक्षणो को साफ साफ समझना पड़ेगा। उसके विना भारतीय जनतन्त्र वड़े खतरे में रहेगा।

राष्ट्र के सामने आज वड़े संकट का समय है। लोगों में सुरक्षा की भावना नही है। जीवन के नैतिक मूल्यो का पतन हो रहा है और सारे समाज के टुकड़े–टुकड़े हो रहे है। ऐसे समय में प्रायः मनुष्य जनतन्त्र में विश्वास खो देता है और दूसरे किसी भी ऐसे आवार को पकड़ लेता है जिसमें उसकी स्वयं की जिम्मेदारी कुछ न हो पर वह सुरक्षित वना रहे।

भारतीय जनतन्त्र के वारे में एक वात हमको याद रखनी है कि वर्तमान युग में हम विचारो में अकेले नही रह सकते। दुनिया में जो परिवर्तन हो रहे है उनका असर हमारे जीवन पर और हमारे जीवन के तरीकों पर पडे विना नही रह सकता।

दूसरी वात यह है कि हमको यह भी याद रखना चाहिये कि हमारी राष्ट्रीयता इतनी संकुचित नही हो सकती है कि हम उससे भी अधिक मूल्यवान आदर्शो को जिनसे सारे मानव समाज का सम्वन्ध है, त्याग दें। तानाशाही में जीवन का लक्ष्य राज्य ही होता है, परन्तु जनतन्त्र में राज्य जीवन के ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन है।

तीसरी बात जो हमको ध्यान में रखनी है वह यह है कि हमको अपनी पुरातन संस्कृति का ध्यान जरूर रखना है लेकिन हम अपनी पुरानी संस्कृति से ही चिपटे नहीं रह सकते। पुराने आदर्शों को और तरीको को बदलते हुए जमाने में आंकना पडेगा। जनतन्त्र में जीवन-मूल्य जड नही होते हैं; गतिवान होते हैं। जनतन्त्र का आदर्श ही प्रगति है इसलिये रुढ़िवाद का जनतन्त्र के साथ मेल नही बैठता।

यह तो हमने नकारात्मक रूप मे जनतन्त्र की व्याख्या की। जन-तन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि हम केवल नकारात्मक रूप मे ही नही परन्तु निश्चित तथा स्पष्ट रूप मे जनतान्त्रिक लक्ष्य की व्याख्या करें।

मूल में जनतान्त्रिक आदर्श नैतिक आदर्श है जिनका मूल सिद्धान्त व्यक्ति का सम्मान है। इसी सिद्धान्त के साथ यह विश्वास जुडा हुआ है कि सामान्य जन शिक्षित हो, समस्याओं की वस्तुस्थिति समझे और अपने आप निर्णय करे। इसके लिये उसे विचार स्वातन्त्र्य की सुविधा हो और वह राज्य तथा समाज की निर्भय आलोचना कर सके। सब वस्तु स्थिति को मालूम करके अपना निर्णय अपने आप करना चाहिये। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में सत्य का आविर्भाव विचारों के स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करने से ही हो सकता है।

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जनतन्त्र के दुश्मन वे लोग हैं जो जनतन्त्र के नाम से विरोधी विचारों को तथा मतभेद को दबाने का प्रयत्न करते हैं। जनतन्त्र अपने विरोधी मत को एक ही दशा में दबा सकता है जब कि उस मत से हिंसा द्वारा जनतन्त्र ही की जड़ उखडती हो। इसलिये जब हम जनतन्त्र की नींव डाल रहे हैं तो इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य के विचार-स्वातंत्र्य की पूर्ण तरह से रक्षा हो अर्थात् उसको अपने विचार प्रकट करने की पूरी आजादी हो।

जनतन्त्र के दुश्मन वे लोग भी हैं जो मानवता के मूल्य तथा उसकी मर्यादा का तिरस्कार करते हैं और जनतन्त्र के नाम पर आर्थिक तथा धार्मिक रूप से किसी वर्ग विशेष को फायदा पहुँचा कर अन्य वर्ग का शोषण करते हैं।

हमारे जनतन्त्र को इस समय बाहर से भी खतरा है और भीतर से भी। इन दोनों खतरों से इसे बचाना चाहिये। बाहर के खतरे से भी अधिक भयानक खतरा है भीतर का। ऊपर बताये हुये दोनो प्रकार के दुश्मन जनतन्त्र को भीतर ही भीतर से उखाड़ते रहते हैं।

इस समय अपने जनतन्त्र को इन दुश्मनों से बचाने के लिये हमको बराबर प्रयत्नशील रहना है। सबसे पहले तो हमको अपने बचाव के लिये जनतन्त्र के लक्ष्य को और जनतन्त्र के मतलब को समय समय पर साफ समझते रहना चाहिये। अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी में जब कि हमारा आर्थिक ढाँचा कृषि-प्रधान समाज के लिये था उस वक्त जनतंत्र का जो मतलब था वह आज के जनतंत्र का मतलब नहीं हो सकता जब कि उद्योगीकरण तथा मशीन समाज के ढाँचे को बदल रहे हैं। इस संक्रमण काल में जनतन्त्र केवल राजनैतिक क्षेत्रमें ही नहीं परन्तु आर्थिक क्षेत्र में भी समझा जाना चाहिये।

दूसरा उपाय जनतन्त्र को बचाने का यह है कि जो जनतन्त्र में विश्वास करते हैं उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि लोगों में जनतन्त्र के प्रति विश्वास बढ़ाने के लिये सक्रिय रूप से भाग लें। विरोधी मत को दबाने से काम नहीं चलेगा और न लोगों के विचार स्वातन्त्र्य को हरण करने से। यह सही है कि इस वक्त जनतंत्र को सबसे बड़ी चुनौती देने वाला वाद साम्यवाद है। साम्यवाद के विचारों का प्रभाव लोगों के मन पर गहरा पड़ रहा है। उसको दबा कर उसका मुकाबिला करने से काम नहीं चलेगा, वरन् जनतन्त्र को चाहिये कि वह

अपने नैतिक आचार, व्यक्ति के सम्मान और व्यक्तिगत विचार स्वातन्त्र्य को मजबूत बनावे ।

तीसरा उपाय जनतन्त्र को बचाने का यह है कि जनतन्त्र के आदर्शों को जीवन के सभी क्षेत्रों—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक,—में कार्य रूप में परिणत करे । जनतन्त्र खाली नारे लगाने से ही नहीं बचेगा लेकिन उसके पीछे ठोस काम होना चाहिये । जनतन्त्र की बुनियाद तभी मजबूत हो सकती है जब कि हमको केवल जनतान्त्रिक अनुभव ही न हो लेकिन हम स्वयं जनतान्त्रिक हो । जनतन्त्र के बारे में हम केवल बातचीत करके ही संतोष न करलें लेकिन जनतन्त्र का निर्माण भी करें । इसका मतलब यही है कि जो ताकत और असमान अधिकार कुछ वर्गों के पास है उनका पूर्ण रूप से विभाजन हो, जिससे जनसाधारण को उनका पूरा लाभ मिल सके ।

राज्य और शिक्षा

आधुनिक काल में बहुत बड़ी समस्या जो हमारे सामने खड़ी हुई है और जिसके ठीक प्रकार से हल होने पर ही समाज की उन्नति हो सकती है, वह है राज्य और शिक्षा का सम्बन्ध। अब तक बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी या तो कुटुम्ब ने ली या समाज अथवा किसी धर्म-संस्था ने। परन्तु जैसे-जैसे राज्य के कर्तव्य तथा अधिकार बढ़ते गये वैसे-वैसे यह समझा जाने लगा कि शिक्षा देना राज्य का काम है। शिक्षा को राज्य का कर्तव्य मानने का विचार समाज में बिल्कुल नया है।

अन्य देशों के राज्यों ने शिक्षा को अपना कर्तव्य समझ रखा है। स्काटलेन्ड ने १६९६ में, डेनमार्क ने १८१४ में, प्रशिया ने १८१६ में, स्विटज़रलेन्ड ने १८३० में, स्वीडन ने १८४२ में और इंगलेन्ड ने १८७६ में जनता के लिये अनिवार्य शिक्षा को प्रारम्भ किया। भारतवर्ष को भी अब स्वतन्त्र होने पर अनिवार्य शिक्षा की जिम्मेदारी उठानी पड़ेगी। कोई भी राज्य जो जन-तन्त्र के आधार पर स्थापित होता है, अपने नागरिकों को बहुत दिनों तक अज्ञानान्धकार में नहीं रख सकता। जिस प्रकार सामन्तशाही राज्य के लोगों को अज्ञान में रखना उस राज्य के हित में समझा जाता था, उसी प्रकार जनतन्त्र का हित इसी में है कि शिक्षित जनता द्वारा उसे बल मिलता रहे।

राज्य की इस जिम्मेदारी को लेते ही एक बड़ा जटिल प्रश्न हमारे सामने खड़ा हो जाता है। वह यह कि किस हद तक शिक्षा को राज्य अपने आधीन रखे तथा किस हद तक उसको स्वतन्त्रता दे। इस प्रश्न का उत्तर हम तभी दे सकते हैं जब हमको राज्य और समाज के

अधिकारों तथा कर्तव्यों का अच्छी तरह ज्ञान हो। ऐसा विवेक न होने से ही हमारे विचारों में गडबडी होती है।

जब कुछ व्यक्ति समूह बना कर एक साथ रहने लगते हैं और साथ काम करके पारस्परिक जरूरतों को पूरा करते हैं तो समाज का निर्माण होता है। हमारी प्रधान जरूरत आर्थिक होती है। लेकिन आर्थिक जरूरतों के परे भी बहुत-सी जरूरतें होती हैं, जैसे धार्मिक, सांस्कृतिक, घरेलू इत्यादि जिनको पूरी करना आवश्यक होता है और जिनकी पूर्ति समाज ही में हो सकती है।

जब समाज का पूरी तरह से संगठन तथा एकीकरण हो जाता है और उसमें अपने सभी अंगों को बलपूर्वक स्वाधीन रखने की शक्ति आ जाती है तब राज्य का निर्माण होता है। समाज की शक्ति को हुकूमत या प्रभुत्व कहते हैं।

राज्य का यह कर्तव्य है कि समाज के सामूहिक जीवन की व्यवस्था करे, सभी नागरिको को सम-दृष्टि से देखे तथा उनकी इच्छाओं और अरमानो को सतुष्ट होने का मौका दे। जिस हद तक राज्य यह करता है उस हद तक वह अपने नैतिक कर्तव्यो को पूरा करता है। इस दृष्टि से हरेक नागरिक को पूरा मौका देना राज्य का कर्तव्य हो जाता है, ठीक उसी तरह जिस तरह देश की रक्षा करना और समाज में न्याय को स्थापित रखना उसका कर्तव्य होता है।

यदि सभी राज्य अपने कर्तव्यो का ठीक तरह से पालन करें तो आज समाज में जो विवाद और कलह मचा हुआ है वह न रहे। सच्ची बात यह है कि राज्य अपने कर्तव्य पालन नही कर रहे हैं। राज्यों की वास्तविक परिस्थिति उनके आदर्शों के अनुकूल नहीं है। राज्य जैसे होने चाहिये और राज्य जैसे हैं उसमें बहुत बड़ा अन्तर है। आधुनिक राज्य सारे समाज की भलाई की चिन्ता नही करते लेकिन किसी वर्ग-विशेष के साथ अपना सम्बन्ध जोड लेते है। जितने भी कानून और

सामाजिक विचार प्रचलित होते हैं वे उस वर्ग विशेष के हित के लिए होते हैं न कि सारे समाज के हित के लिये। हमारे आजकल के राज्यो ने पूंजीपति वर्ग के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है, जिसका नतीजा यह होता है कि जितने भी विचार प्रचलित है तथा जैसी भी समाज व्यवस्था है उसमें पूंजीपतियो के हितो का ध्यान रखा जाता है, न कि समाज के हितो का। १५

यदि हम शिक्षा के प्रसार का इतिहास देखे तो हमको पता लगेगा कि शिक्षा मे सुधार करने के लिये बडा परिश्रम करना पड़ा है। किसी भी राज्य ने कभी अपनी इच्छा से शिक्षा का प्रचार नही किया। लोगो की मांग पहले आई और उसके लिये बड़ा आन्दोलन तथा प्रयत्न करना पड़ा। इसका कारण यह है कि राज्य का सम्बन्ध कुछ वर्ग-विशेष से रहा है और इन वर्गों का हित इसी में है कि साधारण जनता अन्धकार मे रहे।

यहाँ हम एक चक्कर मे फँस जाते है। साधारण जन को शिक्षा नही मिल सकती है, जब तक कि पूंजीवादी समाज का ढाँचा न बदले और पूंजीवादी समाज का ढाँचा कैसे बदल सकता है जब तक कि शिक्षित समाज उसकी माँग न करे। इस चक्कर को कहीं न कही तो तोड़ना पड़ेगा। यह सच है कि समाज का विकास बहुत कुछ मनुष्यो के अर्थ-सम्बन्ध पर निर्भर रहा है। किसी भी समाज का मूल्य आँकने के लिए हमको यह देखना पड़ेगा कि वहाँ के लोग अपनी आजीविका का प्रबन्ध कैसे करते है। उसी के आधार पर उस समाज की शिक्षा, विकास, संस्कृति, राजनैतिक न्याय, धर्म, साहित्य, कला और शिक्षा का निर्माण होता है। इसलिये सर्व प्रथम हमको आधुनिक समाज की उस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप वर्ग विशेष को

---

१५ Harold J. Laski The State in Theory and Practice. PP 87-192

मुनाफ़ा होता है और अधिकांश लोग गरीबी में रहते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जब तक हम समाजवाद की स्थापना न करें अर्थात् समानता और न्याय पर समाज की व्यवस्था न हो जाय तब तक हमको शिक्षा में कुछ नहीं करना है। शिक्षा स्वयं एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो इस समाज का परिवर्तन करने में और मनुष्य के अर्थ सम्बन्धी ढाँचों को बदलने में सहायक हो सकती है। मनुष्य का दिमाग समाज के अर्थ-सम्बन्धों से केवल प्रभावित ही नहीं होता है लेकिन उन पर भी अपना प्रभाव डालता है। इसलिये शिक्षा समाज का ढाँचा बदलने में बड़ा शक्तिशाली साधन हो सकता है गो कि पूँजीवादी समाज में उसके ऊपर कई बन्धन होंगे। १६-१७

शिक्षा अपना समाज निर्माण का काम निरन्तर करती रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा का अन्तिम अधिकार राज्य के हाथ में न रह कर समाज के हाथ में रहे।

राज्य के हाथ में जब शिक्षा का पूरा अधिकार हो जाता है तो हमेशा यह खतरा रहता है कि शिक्षा द्वारा हरेक व्यक्ति एक ही साँचे में ढाले जायें। जहाँ शिक्षा पर राज्य ने पूर्ण अधिकार कर लिया है वहाँ हमने यही परिणाम होते देखा है। शिक्षा के सारे वातावरण को इस तरह से नियन्त्रित किया जाता है कि उसमें व्यक्ति को स्वयं विचारने का कोई मौका नहीं मिलता। स्कूल का पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकें और स्कूल की शिक्षा का सारा वातावरण इस तरह से बनाया जाता है कि शासकों के विचार ही बालकों पर थोप दिये जाते हैं। शिक्षक शिक्षक नहीं रहता। केवल शासकों का विचार-वाहक हो जाता है। शिक्षा के प्रकार तथा उसके प्रवाह में यदि बहुत ही बाधा डाली जाय तो उसका असली मन्तव्य मारा जाता है। शिक्षा समाज का

१६-१७ C. E. H. Joad About Education. Page 165. Also Maurice J. Shore . Soviet Education pp. 24-33.

निरन्तर विकास करती रहे इसके लिये यह जरूरी है कि शिक्षा में स्वतन्त्रता हो और राज्य का दखल कम से कम हो। पाठ्यक्रम में, पढ़ाई के तरीको में, पुस्तको के चुनाव में और स्कूल के अन्य कार्यक्रम में यदि राज्य दखल देता है और शिक्षा को बिलकुल फौजी पद्धति से चलाने की कोशिश करता है तो शिक्षा बिलकुल पंगु बन जाती है।

इसका मतलब यह नही है कि राज्य को शिक्षा में कुछ नही करना है। राज्य का शिक्षा में बड़ा महत्वपूर्ण काम है और वह है शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करना कि जिसमें समाज के सभी अगो और व्यक्तियो को बराबर विकास करने का मौका मिले। इसके अलावा समाज की उन्नति के लिये शिक्षा की योजनायें बनाना और उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिये साधन जुटाना भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। राज्य को चाहिए कि इस बात की भी निगरानी रखे कि शिक्षा में ऐसे तरीके काम में न लाये जायें जो समाज में वैमनस्य तथा कलह पैदा करते है। यदि शिक्षा में ऐसी असामाजिक प्रवृत्तियाँ मौजूद हो तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह उनको निर्मूल करने की चेष्टा करे। परन्तु यह हमको ध्यान में रखना चाहिए कि जनतन्त्र के लिये यदि हम शिक्षा देना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि शिक्षा में परिवर्तनशील प्रगतिगामी प्रयोग भी हों। बिना उसके हम जड़ समाज की रचना तो कर सकते हैं परन्तु परिवर्तनशील समाज की जरूरतों को पूरा नही कर सकते। जीवन में गति है, इसलिये शिक्षा में भी बराबर गति होनी चाहिए वरना हमारे समाज में जड़ता और स्थिरता आ जायगी।[१८]

शिक्षा के काम में सारे समाज का सहयोग मिल सके इसके लिये जरूरी है कि शिक्षा की व्यवस्था केवल सरकारी विभाग द्वारा ही न हो लेकिन उसमें शिक्षा शास्त्रियों का और नागरिकों का भी पूरा

१८ Lester Smith . To Whom Do Schools Belongs pp 144-7.

सहयोग हो। यदि हम अपने देश को ऊपर उठाना चाहते है तो हमें शिक्षा के काम को केवल स्कूल पर ही नही छोडना है लेकिन उसके लिये समाज के सब साधन और शक्तियाँ लगा देनी है। इसका मतलब यह है कि वालक चाहे खेत में हो, सिनेमा में हो या और कही हो उसकी शिक्षा वरावर जारी रहेगी। शिक्षा के क्षेत्र को व्यापक वनाना पडेगा। वालक अपनी शिक्षा केवल पुस्तको या प्रवचनो मे ही नही प्राप्त करेगा परन्तु उन सव परिस्थितियो तथा स्थानो मे भी जहाँ स्त्री और पुरुष साथ मिलकर कार्य करते है और अनुभव प्राप्त करते है ये तरीके काम में लाये जायेंगे तभी सारा समाज अपने आपको शिक्षित कर सकेगा। स्कूल जीवन का प्रतिविंवा हो जायगा और समाज स्कूल के सदृश हो जायगा। समाज के किसी अग मे परिवर्तन होने पर उसका असर स्कूल पर पडेगा। १६

राज्य और शिक्षा की समस्या हमको राज्य और व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध पर विचार करने को वाध्य करती है। शिक्षा सिद्धान्त में प्राय दो विपरीत मत हमको दिखलाई देते है। एक जो यह समझता है कि शिक्षा का मकसद है मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना। व्यक्ति समाज की इकाई है और जव तक पूर्ण रूप मे व्यक्ति का विकास नही होता समाज का विकास भी सम्भव नही। हरेक व्यक्ति का अलग व्यक्तित्व है उसमें विशेष गुण होते है और शिक्षा का यह काम है कि ऐसे साधन जुटावे, जिसके द्वारा उन गुणो का पूर्ण रूप मे विकास हो सके। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि राज्य का विकास ही हमारा अंतिम लक्ष्य है और जितनी व्यक्ति की क्रियाएं है वे राज्य की उन्नति के लिये होनी चाहिए। व्यक्ति का राज्य मे कोई अलग अस्तित्व नही है इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि पूर्ण रूप से अपने आपको राज्य के हित के लिये समर्पित करदे। राज्य मे एक प्रकार

१६ M. L. Jacks, Total Education pp. 13-26

की दैवी शक्ति है जो सब व्यक्तियो और व्यक्तियों के समूहो के ऊपर रहती है ।

ये दोनो विचार धाराएँ हमारे जमाने में प्रचलित रही है । इन दोनो तथ्यो में एक भ्रान्ति है और वह इसलिए कि हम समाज और व्यक्ति के स्वभाव और गुणो को अच्छी तरह से नही समझते है ।

मनुष्य समाज का एक गुण तो यह है कि मनुष्य हमेशा किसी न किसी समूह का सदस्य बन कर रहता है । अपनी जीविका के लिये अपने आर्थिक और आध्यात्मिक जीवन के लिये और अपनी जाति की रक्षा के लिये किसी न किसी समूह में रहना उसके लिये आवश्यक हो जाता है । लेकिन इसी के साथ साथ यह सच है कि मनुष्य का अपने समूह के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि किसी जीवित पदार्थ के एक सूक्ष्म भाग का समूचे पदार्थ के साथ । मनुष्य को समूह की आवश्यकता तो है लेकिन यह जरूरी नही है कि उसका सम्बन्ध अविच्छेद रूप से किसी एक ही समूह से हो । इसलिए मनुष्य का प्राय कई समूहो के साथ सम्बन्ध होता है । साथ ही यह बिलकुल न्याययुक्त है कि मनुष्य को समाज की आवश्यकता है तथा समाज के द्वारा ही वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है । जिन लोगोंने आर्थिक प्रतियोगिता के आधार पर झूठे व्यक्तिवाद का नारा दिया है वे मनुष्य का समाज के साथ जो सम्बन्ध है उसे अच्छी तरह से नही समझे है ।

परन्तु इसी के साथ एक दूसरी बात है जिसको हमें नही भूल जाना चाहिए । मनुष्य का समाज के साथ सम्बन्ध तो है लेकिन वह पूरा समाज में समा नही जाता है । उसकी अपनी भी कुछ स्वतन्त्रता है जो हमेशा समाज से नियन्त्रित नही होती है । मनुष्य के विचार है, उसकी इच्छाएँ है और उसके लक्ष्य है जो उसके व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते है । जब वह किसी समाज के उद्देश्य को पूरा करता है उस वक्त भी उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओ की पूर्ति होती है, उसके अपने उद्देश्य, भाव और

विचार होते हैं जो समूह के नहीं होते । प्रत्येक व्यक्ति का खुद का जीवन होता है । चाहे वह कितना ही छोटा हो । हमको प्रायः व्यक्ति और समाज में एकता मालूम होती है परन्तु वह एकता उसी हद तक होती है, जिस हद तक व्यक्ति विशेष समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर सामान्य मूल्यों के आधार पर सामाजिक धरातल को ऊँचा उठाने में भाग ले । उन मूल्यों की सिद्धि तब ही सम्भव है जब कि वे व्यक्ति विशेष के जीवन में प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान हों । समूह कभी समूह के रूप में उन मूल्यों का अनुभव नहीं करता है । यह समझना गलत है कि राज्य जैसी कोई दैविक शक्ति व्यक्तियों के ऊपर रहती है । मनुष्य कभी भी अपना पूर्ण व्यक्तित्व समूह को समर्पित नहीं करता । यदि वह अपने आप को किसी समूह के आदर्शों और उसकी सेवा में लगा देता है तो वह अपने ही आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करता है न कि किसी बाहर के प्रभुत्व के प्रभाव से । समाज-सेवा द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता है और वह इसलिये इस तरीके को अपनाता है कि उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इसी के द्वारा हो सकता था । जो भी सेवा का काम वह करता है स्वेच्छा से करता है । मनुष्य जब अपने कुटुम्ब में, धर्म में, राज्य में या किसी विशेष हेतु की सिद्धि में अपने आपको लीन कर देता है; तो उसकी स्वतन्त्रता और उसका व्यक्तित्व बढ़ता ही है, घटता नहीं ; जैसा कि वैज्ञानिक कलाकार, दार्शनिक या शिक्षक करता है । २०

इस सिद्धान्तको यदि हम स्वीकार करें तो उससे दो नतीजे निकलते है । मनुष्य की भक्ति किसी एक समूह के लिये नहीं लेकिन कितने ही समूहों के लिये एक साथ हो सकती है । वह किसी समूह का उसी हद तक स्वीकार करेगा जिस हद तक वह उसके जीवन के अनुकूल

२०. R. M. MacIver: The Web of Government. pp. 410–44.

पड़ेगा। इसलिये समाज में जितनी ही स्वतन्त्रता और लचीलापन रहेगा उसी हद तक मनुष्य अपने मूल्यो को स्वतन्त्रता से स्वीकार करेगा और जिस हद तक फौजी तरीके से समाज का संगठन होगा उसी हद तक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खोयेगा। दूसरी बात यह है कि जीवन के अंतिम मूल्य समाज मे नही वरन् व्यक्ति में ही रहेंगे। समूह के जितने भी गुण है वे सब वास्तव में व्यक्तियो के गुण हैं।

राज्य और व्यक्ति का जो सम्बन्ध है उसको हमे अच्छी तरह से समझना चाहिये क्योकि मानसिक और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता हमारे राज्य संबधी विचारो पर ही निर्भर है। यदि हम राज्य को सर्वश्रेष्ठ शक्ति मान ले और अन्धे होकर उसकी पूजा करें तथा आज्ञा माने या उसके बारे में हमारी यह भावना हो कि राज्य के पास विशेष प्रकार का अधिकार है और वह कभी कोई गलती नही कर सकता है तो स्कूल मे कोई स्वतन्त्रता नही होगी। इसके विपरीत यदि हम यह समझें कि राज्य अपने सब विभागो सहित व्यक्ति के तथा समाज के हित आगे बढाने के लिये केवल एक साधन है और उसकी सत्ता सीमित है तो शिक्षा कुछ हद तक स्वतन्त्रता की माँग कर सकती है। इसी परिस्थिति में जनतन्त्र सफलतापूर्वक काम कर सकता है। स्कूल की तथा अध्यापक की भक्ति किसी राजनैतिक व्यक्ति या संगठन के प्रति नही होगी बल्कि उन बच्चो के प्रति होगी जो उसके जिम्मे छोडे गये हैं। उनकी भक्ति राज्य के प्रति नही पर उस समाज के प्रति होगी जिसका वह सेवक है। यदि शिक्षक की भक्ति राज्य के लिये प्रधान हो जाय और समाज के लिये गौण, तो जनतन्त्र का खात्मा और तानाशाही की शुरुआत हो जायगी। यदि शिक्षा द्वारा समाज का पुनर्गठन होना है तो शिक्षा में स्वतन्त्रता होना अनिवार्य है।

पहले बताया जा चुका है कि हमारे जो आधुनिक राज्य हैं वे निष्पक्ष नही है और पूंजीवर्ग से प्रभावित है। शिक्षा स्वतन्त्रता के वातावरण में निर्माण का काम करती है इसके लिए यह आवश्यक

है कि नौकरशाही का तथा पूंजीवाद का जो शिक्षा पर प्रभाव है उससे वह स्वतन्त्र हो। पूंजीपति शिक्षा पर तरह तरह से प्रभाव डालते है। वे केवल धन देकर स्कूलो पर ही अपना आधिपत्य नही जमाते है परन्तु प्रतियोगिता तथा मुनाफे के मूल्य शिक्षा समाज के साथ रखकर शिक्षको का तथा बालको का नैतिक पतन कराते है।

ऊपर जो चर्चा की गई है उससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा और राजनैतिक जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध है और वे एक दूसरे पर अवलम्बित है। शिक्षा और राजनीति के सम्बन्ध के बारे में दो विपरीत मत हमारे समाज मे प्रचलित है। कुछ लोगो का खयाल है कि शिक्षा का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है। बाहरी दुनिया के द्वन्द्वपूर्ण विचार स्कूल पर आक्रमण करें तो शिक्षा दोषपूर्ण होती है और उसकी हानि होती है। जिस हद तक स्कूल समाज के झगडो में पडता है, उसी हद तक वह अपना विशेष काम छोड देता है। शिक्षा का यह काम नही है कि बदलते हुए समाज की तरफ बच्चो का ध्यान आकर्षित करे। उसका काम तो केवल इतना ही है कि जो चिरस्थायी जीवन के मूल्य है और जो परिवर्तनशील समाज से प्रभावित नही होते है, उनकी शिक्षा बालको को दे। शिक्षा का यह काम नही है कि वह राजनैतिक झगडो मे पडे। शिक्षा का तो एक पवित्र काम है और उसे गन्दी राजनीति से सदैव अलग रहना चाहिये।

दूसरी विचार-धारा यह है कि शिक्षा केवल राजनीति का एक साधन है। स्कूल समाज को गति देने के लिये स्वयं कुछ काम नही कर सकता है, वह तो राज्य का एक साधन मात्र है। उसके द्वारा उस विचार पद्धति का तथा उस दृष्टिकोण का प्रचार किया जाता है जिसमे राज्य विश्वास करता है। सच्ची ताकत स्कूल में नही है लेकिन स्कूल के बाहर है और यही बाहर की सत्ता शिक्षा सम्बन्धी छोटी से छोटी वस्तु जैसे पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तकें निर्धारित करती है। शिक्षा में कोई

स्वतन्त्रता नही है । जो राजनैतिक दल सत्ता ग्रहण करता है वही अपने आदर्शों और दृष्टिकोण के अनुकूल शिक्षा का संचालन करता है ।

इन दोनो विरोधी मतो मे अन्तर यह है कि एक की दृष्टि में शिक्षा का काम केवल शुद्ध ज्ञान का उपार्जन है, जिसका बालक के दृष्टिकोण से, उसके आदर्शों मे तथा उसके विचारो मे कोई सम्बन्ध नही है । दूसरे मत के अनुसार बालक के दृष्टिकोण बनाने का,उसकी विचारधारा मोड़ने का और उसमें एक विशेष प्रकार के आदर्श के प्रति भक्ति पैदा करने का नाम ही शिक्षा है ।

हमारी दृष्टि में इन दोनो मतो की विचारधारा में त्रुटि है । बालक जिस समाज और संस्कृति मे रहता है और बड़ा होता है उसके विशेष प्रकार के मूल्य और आदर्श होते हैं । शिक्षा का काम है कि बालक केवल ज्ञान का ही उपार्जन न करे लेकिन उसके साथ-साथ उन आदर्शों तथा मूल्यो को भी जीवन मे उतारने की कोशिश करे जिनको समाज महत्व देता है तथा जिनसे समाज की प्रगति होती रहती है । सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्य हमारे समाज की जड़ें हैं । बिना इनको सींचे हुए समाज खोखला तथा अप्रगतिशील हो जाता है । दूसरी विचार धारा के अनुसार शिक्षा का काम केवल दृष्टिकोण बनाना तथा बालक के चरित्र को मोडने पर जोर देना है । यह विचार भी दोषयुक्त है । बालक में बिना विवेक तथा ज्ञान के किसी आदर्श को भरना उसमे गुलामी पैदा करना है और उसकी बुद्धि को कुठित करना है । बालक जो भी आदर्श स्वीकार करे और मूल्य अंगीकार करे, बुद्धि से सोच समझ कर करे । ऐसा होने पर ही समाज की प्रगति बराबर होती रहती है वरना उसमे जड़ता आ जाती है ।

यदि शिक्षा द्वारा जनतन्त्र को मजबूत बनाना है तो इन दोनो विरोधी मतो के मध्य का रास्ता हमको निकालना पड़ेगा । ज्ञान के साथ बालको को मूल्य भी देने पडेगे । हमको यह देखना पड़ेगा कि

शिक्षा किसी राजनैतिक दल विशेष की विचार वाहक नहीं हो जाय कि जिससे वह सामाजिक प्रगति को बिलकुल ही रोक दे। शिक्षा को चाहिये कि वह समाज के पिछले अल्पकालीन झगड़ो में न पड़ते हुए भी समाज की जो गहरी प्रवृत्तियाँ और धाराएँ है, उनको ध्यान में रखे। दैनिक जीवन की क्षणिक सामाजिक समस्याओं में न पड़ते हुए भी समाज के मूल्यो को सामने रखे और समाज के निर्माण का काम बराबर करती रहे। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि उन सब शक्तियों का विरोध करे जो जनतन्त्र को दबाने का प्रयत्न करती है। शिक्षा के इन उद्देश्य को यदि हम सामने रखें तो यह साफ है कि शिक्षा को हम राजनीति से अलग नही कर सकते।२१

---

२१. George S Counts : The Prospects of American Democracy. Pages 290-306

अर्थ व्यवस्था और शिक्षा

शिक्षा पर देश व काल की परिस्थिति का बडा प्रभाव पडता है और सब से अधिक प्रभाव पडता है उसकी आर्थिक व्यवस्था का। साधारणतया, इससे लोग अनभिज्ञ रहते हैं। लोकतंत्र में यह सिद्धात प्रायः स्वीकार कर लिया गया है कि समाज के सब बच्चो को शिक्षा मे समान अवसर मिलना चाहिये परन्तु जब तक आर्थिक दृष्टि से समाज में समानता नही होती, शिक्षा में समान अवसर का होना निरर्थक है। जिन जिन देशो में अनिवार्य शिक्षा का प्रयोग किया गया है वहाँ प्राय. यह पाया गया है कि माता पिता अनिवार्य शिक्षा की अवधि समाप्त होते ही अपने बच्चो को स्कूल से छुडा लेते है और उनको काम में लगा देते है। अपने देश की परिस्थिति को हम अच्छी तरह जानते है। हमारे देश के बच्चे हमारे कौटुम्बिक आर्थिक जीवन के आवश्यक अग है। हमारे जन साधारण के जीवन का स्तर इतना नीचा है कि बिना बच्चो की सहायता के हमारे कुटुम्ब का निर्वाह होना कठिन है। इसके विपरीत कुछ धनी लोगो के बच्चे, जिन पर किसी प्रकार का आर्थिक भार नही है, अधिक से अधिक समय तक स्कूल मे रह सकते है। इसलिये यह स्पष्ट है हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा हो जाने पर भी जब तक आर्थिक असमानता रहेगी, शिक्षा में सबको समान अवसर मिलना असम्भव है।

शिक्षा का और अर्थ व्यवस्था का तीन बातो मे मुख्यत सम्बन्ध रहता है। १. उत्पादन करना २. विभाजन करना और ३. लाभ प्राप्ति की प्रेरणा।२२ जब कभी समाज में संघर्ष होता है तो शिक्षा का और इन

२२. John S. Brubacher: Modern Philosophies of Education Page 168

आर्थिक विन्दुओं का सम्बन्ध पुनः जांचने की तथा निर्माण करने की आवश्यकता होती है। शिक्षा तथा धन उत्पादन का बड़ा सीधा और घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्कूलों में वे ही लोग प्रवेश कर पाते हैं जिनके पास धनोपार्जन के साधन हैं तथा जिन लोगों को जीवन निर्वाह के लिए प्रति दिन संघर्ष नहीं करना पड़ता। स्कूलों में वे ही लोग अपने बच्चों को भेज सकते हैं जिनके पास इतना धन है कि वे लम्बे अर्से तक अपने बच्चों को काम में लगाये बिना ही अपने कुटुम्ब का पालन पोषण कर सकें। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अभी तक हमारी शालाओं का उपयोग उन लोगों ने किया है जिनके पास अवकाश तथा पर्याप्त धन है जिससे वे अपने बच्चों का शिक्षा-काल में अच्छी तरह पालन पोषण कर सकते हैं।

जिस तरह उत्पादन की क्रियाओं का शिक्षा पर असर पड़ता है उसी प्रकार शिक्षा का भी उत्पादन की क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। अधिक और ऊंची शिक्षा से वह कौशल व्यक्ति को प्राप्त होता है जो धनोपार्जन अधिक मात्रा में करने में सहायक हो। यह अवश्य है कि शिक्षा अधिक भूमि तथा कच्चा माल नहीं पैदा कर सकती परन्तु वह इन्हीं वस्तुओं को अधिक उत्पादक और मूल्यवान बना सकती है। इसके अलावा शिक्षा द्वारा कई गुणों का विकास होता है—जैसे श्रम की आदत, कार्यक्षमता और मितव्ययता आदि। शिक्षा जीवन का स्तर बढ़ाने में एक दूसरे प्रकार से भी साधक बनती है। जहां जहां शिक्षा का प्रसार होता है वहां वहां जन्म निरोध के कारण जन संख्या भी कम होती जाती है।

केवल बाहरी दृष्टि से हम देखें तो हमको हमारी सारी कठिनाइयों का हल यही मिलता है। अधिक उत्पादन द्वारा शिक्षा का अधिक प्रसार होता है और अधिक शिक्षा से जीवन का स्तर बढ़ता है और जीवन का स्तर बढ़ने से और अधिक उत्पादन होता है। यह क्रम बराबर चलता रहे तो समाज की सभी कठिनाइयों का हल निकल आता है,

परन्तु ऐसा वास्तविक रूप में होता नही। औद्योगीकरण से उत्पादन अवश्य बढा है और उसके साथ साथ जिन जिन देशो मे औद्योगीकरण हुआ है, वहाँ वहाँ शिक्षा का भी प्रसार हुआ है परन्तु औद्योगीकरण ने शिक्षा के सामने नई समस्याएँ उत्पन्न करदी है, जिनका आज मुकाबला करना आवश्यक हो गया है। जिन लोगो के हाथ मे उत्पादन के साधन है वे उत्पादन समाज के हित की दृष्टि से नही करते वरन् अपने लाभ व पूंजी इकट्ठी करने के लिए करते है। इसका दुष्परिणाम यह हो जाता है कि एक छोटा सा वर्ग ऐसा बन जाता है जिसके पास धन होता है और धन के द्वारा वह अपने लिये अवकाश, अपने बच्चो के लिये शिक्षा तथा अन्य सांस्कृतिक मूल्य प्राप्त कर सकता है। समाज का दूसरा बहुत बडा अग इन थोडे से लोगो के लिये शिक्षा तथा सांस्कृतिक मूल्य जुटाने के लिए निरन्तर श्रम करता रहता है। उसके पास न धन होता है न संस्कृति और शिक्षा ही।

समाज के हित मे उत्पादन नहीं होने मे और भी दुष्परिणाम होते है जिनका प्रभाव शिक्षा पर पडता है। पूंजीपति अपने लाभ के लिए उत्पादन बढा देते है और अपने ही लाभ के लिए उसको कम कर लेते है। जब उत्पादन बढता है तो उसके साथ शिक्षा के प्रसार की बातचीत होती है और जब उत्पादन मे कमी होती है तो उसका पहला शिकार होती है शिक्षा, क्योकि यह समझा जाता है कि शिक्षा आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नही है। उत्पादन में कमी होने के साथ साथ बेकारी बढ़ती है और बेकारी की हालत में कोई भी बच्चों की शिक्षा पर ध्यान नही दे सकता।

जहाँ स्वय के लाभ के लिए धनोपार्जन किया जाता है और समाज का हित ध्यान में नही रखा जाता, वहाँ प्राकृतिक पदार्थो को व्यर्थ ही नष्ट किया जाता है। अपने तत्कालीन लाभ के लिए इन पदार्थो का उपयोग किया जाता है और यह ध्यान नही रखा जाता कि देश के

उत्पादन के साधन तथा खनिज पदार्थ सीमित हैं और एक दिन वे समाप्त हो सकते हैं। उनकी समाप्ति पर हमारे जीवन का स्तर कितना गिरेगा और उससे हमारी शिक्षा तथा अन्य समाज सेवाओं को कितनी हानि पहुँचेगी, इसकी कोई कल्पना नही की जाती।

औद्योगीकरण से शिक्षा पर एक और कुप्रभाव पड़ा और वह यह कि जब हमारी अर्थ व्यवस्था कृषि प्रधान थी उस समय बच्चे घर के काम धन्धो मे भाग लेते थे और उसके साथ साथ वे अपनी शिक्षा ग्रहण करते थे पर जब से औद्योगीकरण हुआ तब से काम और शिक्षा का सम्बन्ध टूट गया। बच्चो की शिक्षा का और उद्योगो का कोई सम्बन्ध नही रहा वरन् बालक केवल मशीन के उपकरण मात्र बन गये।

यह समझना गलत है कि केवल उत्पादन बढ़ने से ही शिक्षा की समस्या हल हो जाती है। इसे हल करने के लिए उत्पादन के साधन व्यक्ति विशेष के हाथो मे न होकर समाज के हाथो में होने चाहिये और उत्पादन कार्य मे भी सब व्यक्तियो का पूरा भाग होना चाहिये। शिक्षा की दृष्टि से इस सिद्धात का बहुत बड़ा मूल्य है क्योंकि जब तक विद्यार्थी उद्योगो मे भाग नही लेता है और उद्योग उसकी शिक्षा के तथा उसके जीवन के अग नही हो जाते है, तब तक शिक्षा निर्जीव और निरर्थक होती है। शिक्षा का तथा उद्योग धन्धो का समीकरण करने के लिये आजकल के उद्योग-धन्धो और शिक्षा दोनो का पुनर्निर्माण करना होगा। बालक को शिक्षा ग्रहण करते समय यह अनुभव करना चाहिये कि वह शिक्षा के साथ साथ उत्पादन का काम भी कर रहा है और वह अपने आप को एक श्रमजीवी समझता है।

दूसरा बिन्दु शिक्षा का व अर्थ व्यवस्था का सम्बन्ध धन के विभाजन से है। धन के विभाजन के आधार पर जनसख्या के प्राय: हम तीन वर्ग बना लेते हैं। १ धनी. २. मध्यम ३ निर्धन। धनी वर्ग के पास काफी अवकाश होता है और वह अपने बच्चो के लिए निजी तौर पर अच्छी से

अच्छी शिक्षा का प्रवन्ध कर लेता है। हमारे देश में जिन लोगो के पास पूंजी है उनके वच्चो की शिक्षा में कोई कठिनाई नही। वे देश, विदेशो में अच्छी से अच्छी शिक्षा अपने वच्चो के लिए खरीद सकते है। इसके विपरीत निर्धन श्रेणी के वच्चो को उत्तम शिक्षा का अवसर तो दूर रहा, जीविकोपार्जन से ही अवकाश नही मिलता। हमारे देश में आज शिक्षित लोग वे है जिनके पास धन है। निर्धन किसानो और मजदूरो के पास धन नही है, इस कारण उनको शिक्षा भी उपलब्ध नहीं है। यदि उनके लिए शिक्षा का प्रबंध भी किया जाता है तो उसका पाठ्यक्रम अधिकतर व्यावहारिक तथा व्यावसायिक ज्ञान के लिए होता है, न कि ज्ञान वृद्धि के लिए। धनी वर्ग के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि वे ज्ञानोपार्जन करें तथा सौन्दर्य और नीति से सम्वन्ध रखने वाले विषयों का अध्ययन करें। निर्धन वर्ग के लिए इतना ही काफी है कि वह व्यावहारिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करे, ताकि स्कूल छोडते ही जल्दी से जल्दी किसी व्यापार या धन्धे में लग सके। इस तरह हम देखते है कि धन के विभाजन के आधार पर शिक्षा की पद्धतियाँ तथा पाठ्यक्रम वनाये जाते है।

मध्यम श्रेणी के लोग सदैव इस वात के लिये प्रयत्नशील रहते है कि उनकी गणना धनी वर्ग में होने लगे और वे भी अपने वच्चो को अच्छी और लम्बे काल तक शिक्षा दिला सकें। मध्यम श्रेणी के लोगो के लिए यह तो सम्भव नही हो सकता कि वे अपने वच्चो को ऊँची फीस देकर निजी स्कूलों में भेज सकें; परन्तु वे इस वात की कोशिश करते है कि उनके वच्चो की शिक्षा राज्य के तथा समाज के खर्च पर हो सके। राज्य के खर्च पर सार्वलौकिक शिक्षा का जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसमें वहुत वडा हाथ मध्यम वर्ग का था। सार्वलौकिक शिक्षा का लाभ भी अधिकतर मध्यमवर्ग के लोगो ने ही उठाया। निर्धन वर्ग को न तो कोई विशेष लाभ ही पहुँचा और न उन्हें इस सार्वलौकिक शिक्षा में अधिक विश्वास ही हो पाया है। सत्य तो यह है कि जव तक आर्थिक

समानता नहीं होगी तब तक निर्धन वर्ग के लिये सार्वलौकिक शिक्षा से पूरा लाभ उठाना असम्भव प्रतीत होता है।

तीसरा बिन्दु—अर्थ व्यवस्था का शिक्षा पर लाभ प्राप्ति की प्रेरणा के कारण भी प्रभाव पड़ता है। हमारे समाज का आधुनिक ढांचा लाभ प्राप्ति की प्रेरणा के आधार पर बना हुआ है। जो लोग लाभ प्राप्ति की प्रेरणा में विश्वास करते हैं वे समझते हैं कि पूंजी का प्रभुत्व हुए बिना मनुष्य का सामाजिक और आर्थिक जीवन चल नहीं सकता। मनुष्य को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वह जितना चाहे उतना श्रम करे और उसके फलस्वरूप पूंजी एकत्रित करे। उसको यह भी अधिकार है कि अपनी संचित पूंजी का वह चाहे जिस तरह उपयोग करे। एक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह दूसरे व्यक्ति से काम ले और उनके श्रम का पूरा पारश्रमिक न देकर मुनाफा अपने पास रक्खे। आर्थिक क्षेत्र में यह पूर्ण व्यक्तिवाद के विकास का स्वरूप है।

शिक्षा पर इस आर्थिक व्यक्तिवाद का असर पड़ना स्वाभाविक था। बालकों की अभिरुचि पर ही ध्यान देना और उनकी आत्म-अभिव्यक्ति पर जोर देना, छात्रों द्वारा शिक्षा में योजना बनवाना और इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियां व्यक्तिवाद के ही स्वरूप हैं। शिक्षा का लक्ष्य अधिक से अधिक धन प्राप्त करना और उसके द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति की उन्नति करना ही समझा जाता है। जिस प्रकार व्यापार में प्रतियोगिता होती है उसी प्रकार परीक्षा के अंकों में, स्कूल पारितोषकों में और उपाधियां प्राप्त करने में भी प्रतियोगिता होने लगी। इसका परिणाम शिक्षा में यह होता है कि विद्यार्थी को इस बात का सन्तोष नहीं होता कि उसकी प्रगति भली प्रकार हो रही है, वरन् उसको प्रसन्नता इसमें होती है कि वह दूसरों को हरा कर आगे बढ़ रहा है। जो बच्चे इस घुड़दौड़ में पीछे रह जाते हैं उनमें लघुता की भावना पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप वे समाज में अपनी योग्यता के अनुसार उपयोगी काम नहीं कर सकते।

लाभ प्राप्ति किस प्रकार हमारी शिक्षा पर प्रभाव डाल रही है इसका सब से अच्छा उदाहरण हमारे वे सब साधन हैं जो आज स्कूल के बाहर शिक्षा का काम कर रहे हैं। उदाहरणार्थ सिनेमा, रेडियो और अखबार। इन सब साधनों का कार्य तो जन-समाज में विवेक और जागृति पैदा करना है परन्तु आजकल होता है इसका विपरीत ही। कारण यह है कि जिन लोगो के हाथ में ये साधन है वे जनहित का इतना खयाल नही करते जितना कि अपने लाभ का। सिनेमा की कोई फिल्म तैयार की जाती है तो वह इसलिये नहीं कि उसमे लोगो का सास्कृतिक धरातल ऊँचा उठे वरन् इसलिए कि मनुष्य की नीची से नीची प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर उनसे अधिकाधिक धन खीचा जाय। यही हाल रेडियो और अखबारो का है। आज ये सब साधन मनुष्य की शिक्षा मे नहीं लगे हुए हैं परन्तु उसकी क्षुद्र प्रवृत्तियों को उत्तेजित करके अर्थ संग्रह करने में तथा उनके शोषण में लगे हुए है।

लाभ प्राप्ति की प्रेरणा पिछले युग में चाहे ठीक रही हो परन्तु वर्तमान युग में वह मनुष्य को अधोगति की तरफ पहुँचा रही है। मनुष्य स्वार्थ के वश होकर अपने लाभ के लिए अन्य लोगो का शोषण कर रहा है। आर्थिक क्षेत्र में तथा शिक्षा क्षेत्र मे हमको व्यक्तिगत लाभ और जनहित प्रतियोगिता की जगह सहकारिता को तथा समाजवाद को स्थान देना पड़ेगा।

ऊपर की हुई चर्चा से यह स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था का शिक्षा पर बड़ा गहरा प्रभाव पडता है। जैसी भी अर्थ व्यवस्था होगी उसके विचार और आदर्शों का शिक्षा पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। प्रश्न यह उठता है कि यदि शिक्षा अर्थ व्यवस्था के अधीन है तो क्या वह अर्थ व्यवस्था को बदलने में बिलकुल असमर्थ है? वर्ग-संघर्ष में विश्वास करनेवाले मार्क्सवादियो का खयाल है कि शिक्षा अर्थ व्यवस्था को बदलने में अधिक कारगर नही हो सकती इसलिये वर्ग युद्ध द्वारा आर्थिक ढाँचे को

बदलना सर्वोपरि कर्त्तव्य हो जाता है। दूसरे लोगों का मत है कि वर्गों में परस्पर खुला युद्ध होना आवश्यक नहीं है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्ग संघर्ष अनिवार्य है। जिन लोगों के हाथ में सत्ता और पूंजी है वे आसानी से इनका परित्याग नहीं करते। आवश्यकता पड़ने पर इनके विशेष अधिकारों को छीनने के लिये शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है परन्तु यथाशक्ति युक्ति तथा तर्क द्वारा लोगों का हृदय-परिवर्तन करना चाहिये। ऐसा करने में शिक्षा अपना महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। शिक्षा किसी भी समय निष्पक्ष तो नहीं रह सकती अत. इसका काम है कि लोक तन्त्र के मूल्यों के प्रति लोगों में श्रद्धा और विश्वास पैदा करे। शिक्षा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आजकल की अर्थ व्यवस्था का, जिसमें लोगों को समान अवसर नहीं मिलता है, विरोध करे और उसको बदलने में प्रयत्नशील रहे। शिक्षा प्रगतिशील होती है। वह समाज की और उसकी अर्थ व्यवस्था को बराबर आंकती रहती है, जिससे लोकतन्त्र के नैतिक गुणों का निरन्तर विकास होता रहे। इस दृष्टिकोण से यदि हम देखें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा समाज के निर्माण का और उसकी आर्थिक व्यवस्था सुधारने का महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है।

भारतीय स्कूलों में शिक्षा स्वातंत्र्य

आज शिक्षको और राज्य दोनों के सामने एक मुख्य कार्य है शिक्षा-स्वातन्त्र्य की सीमा और उसके अभिप्राय की परिभाषा निश्चित करना। भूतकाल में जब कि भारत अंग्रेजो के आधीन था, शिक्षको के लिये अनेक नियत्रण और मर्यादाएँ थी। उनका कोई विचार, सम्मति या उनकी कोई संस्था यदि राज्य के अनुकूल न होती तो उन्हें राज्य के अधिकारियो का कोप-भाजन बन कर हर प्रकार से दण्डनीय होना पड़ता था। शिक्षा में स्वतन्त्रता थी ही नही। शिक्षको को साधारण नागरिको जितने भी अधिकार नही थे।

आज हम स्वतन्त्र है और राज्य सचालन में जनतान्त्रिक पद्धति को हमने स्वीकार किया है। अत. यह भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम शिक्षा को पुन: स्वतंत्र बनाएँ अर्थात् शिक्षको और शिक्षार्थियो को पढ़ने पढ़ाने की स्वतन्त्रता हो। इसका प्रजातन्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने विचारो को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता द्वारा ही प्रजातन्त्र की सच्ची नीव रख सकना सम्भव है।

हम संक्रमण काल में निवास कर रहे है। पुराने ढर्रे को सुरक्षित रखनेवाले प्रतिक्रियावादी तथा नया सामाजिक परिवर्तन लानेवाले क्रांतिकारी, दोनो ही हिंसा और दबाव का पथ अपनाते है। आज ये ही बातें हम अपने समाज में देख रहे है। प्रजातन्त्र से—जो लोगो पर दबाव डालने तथा उन्हें कष्ट देने के विपरीत तर्क और प्रोत्साहन का मार्ग अपनाता है—लोगों का विश्वास उठ न जाय इसलिये और समाज की समुचित प्रगति के लिये आवश्यक है कि शिक्षक सामाजिक विषमता के कारणों का विश्लेषण करने और उनके निवारण के उपाय सुझाने में स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता के वातावरण में ही बुद्धिपूर्वक

कार्य करने की आदतें विकसित हो सकती हैं। शिक्षा के स्वातन्त्र्य को सीमित करने के वास्ते जो शक्ति लगती है उसके द्वारा इच्छित परिवर्तन लाने में अततोगत्वा हिंसा का मार्ग अपनाना पड़ता है। जो शक्ति शिक्षा को स्वतंत्र बनाने में लगती है उसके द्वारा जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं वे विवेकपूर्ण होते हैं और व्यवस्थित रूप से समाज को न्याय, समानता और मानवता की ओर अग्रसर करते हैं। २३

यदि शिक्षण संस्थाओं के जनतंत्र को सुरक्षित रखना है तो हमें देखना होगा कि शिक्षकों के वे कौन से अधिकार हैं जिनकी उन्हें रक्षा करनी है और समाज को जिन्हें पोषण देना है? सर्व प्रथम हमें यह स्वीकार करना है कि मतभेद पूर्ण विषयों पर तर्क वितर्क करना और विद्यार्थियों के सन्मुख अपना दृष्टिकोण रखना शिक्षक का विशेषाधिकार है। इस अधिकार का स्वरूप जनतंत्र के प्रकार तथा विद्यार्थियों की आवश्यकता पर निर्भर है। प्रजातंत्र में वाद-विवाद और तर्क-वितर्क द्वारा नागरिकगण अपनी सामूहिक समस्याओं को हल करते हैं। हमारे वर्तमान समाज में अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्यायें हैं जिनके विषय में अभी तक कोई स्पष्ट मत नहीं बन पाया है। शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर विचार करे ताकि विद्यार्थी भी उनसे अवगत हो जायें और उनको जनतान्त्रिक ढंग से सुलझाना सीखें। इस प्रकार इन सामाजिक बातों की शिक्षा देने में शिक्षक अपना कर्तव्य पूरा करते हैं और यह शिक्षा सिद्धान्तों के अनुकूल भी है। और जनतन्त्र के मूल-भूत सिद्धान्तों में ही हमारे शिक्षकों के इस अधिकार का नैतिक आधार निहित है। २४

---

२३. John Dewey . Problems of Men —Pages 79–80

२४. Archibald W Anderson : "Protecting the Right to Teach Social Issues" in *Progressive Education* October 1948—Page 23–24

अनेक ऐसे सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक सङ्गठन हैं जो शिक्षक की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करना चाहते हैं । इन संङ्गठनो का अपना विशेष स्वार्थ होता है और उसकी पूर्ति के लिये वे शिक्षकों पर दबाव डालते हैं तथा ऐसी स्थिति उपस्थित कर देते हैं कि शिक्षक के लिये अपना कर्तव्य पूरा करना असम्भव हो जाता है । अन्य बातो में तो वे शिक्षक को स्वतंत्रता देते हैं पर जहां अपने दल के स्वार्थ का प्रश्न होता है वहां वे उसपर नियन्त्रण लगाते है। ज्योंही शिक्षक प्रचलित धार्मिक कट्टरता, सामाजिक रस्मरिवाज, आर्थिक सिद्धान्त और राजनैतिक मान्यनाओ की समालोचना करने लगता है, वह संकट में फंस जाता है और अधिकारियो का कोपभाजन बन जाता है । इस प्रकार की सीमित स्वतंत्रता का कोई अर्थ नही है—यह तो केवल इस समस्या को टालना है । यदि शिक्षा का मन्तव्य विद्यार्थियो में आलोचनात्मक विचारों को विकसित करना है, उनको त्वरित गति से परिवर्तित होते हुए समाज के अनुकूल बनाना है और उत्तम समाज रचना की प्रेरक शक्ति उनमें उत्पन्न करना है तो शिक्षको को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये । समाज को चाहिये कि उनकी हर प्रकार के दबाव से रक्षा करे और पूर्ण स्वतंत्रता के वातावरण में उन्हें शिक्षा का कार्य करने का अवसर दे । इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि शिक्षकों का कोई उत्तरदायित्व नही है । शिक्षा संघ के सदस्यों के नाते जनतान्त्रिक समाज में जिस प्रकार उनको अधिकार, विशेषाधिकार और स्वतंत्रता है उसी प्रकार उनको भी समाज के प्रति श्रद्धा भक्ति रखनी है, अपना कर्तव्य पालन करना है और अनुशासन निभाना है। जिस प्रकार का जनतंत्र है उसी के अनुरूप उनके अधिकार और कर्तव्य तथा स्वतंत्रता और अनुशासन होगे । इस सामाजिक सम्बन्ध के बिना स्वतन्त्र रूप से इनका कोई अर्थ नही ।

शिक्षक का हमारे समाज के नागरिकों में क्या स्थान है इस प्रश्न पर भी हमारे देश में कोई स्पष्ट विचार धारा नहीं है। कुछ लोग

सोचते हैं कि शिक्षक को विद्याध्ययन में ही अपना जीवन अर्पण करना चाहिये और राजनीति से सदैव दूर रहना चाहिये। शिक्षक ज्यो ही राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करता है उसकी पवित्रता दूषित हो जाती है। यह विचार शिक्षक के नागरिक अधिकारो के प्रति घोर अन्याय करता है। एक नागरिक की हैसियत से शिक्षक को भी नागरिकता के सब अधिकार होने चाहिये। उसको भी भाषण, प्रकाशन और दूसरों के साथ सम्पर्क रखने तथा ऐसे आन्दोलनो का समर्थन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये जिनको वह जन-हितकारी समझता है। शिक्षक जिस राजनैतिक दल को अच्छा समझे उसका सदस्य बनने की और उसके उद्देश्यो का प्रचार करने की भी उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिये। जनतंत्र के अन्य नागरिको पर जो अनुशासन और नियंत्रण लागू होते हैं उनके अतिरिक्त शिक्षक पर कोई विशेष नियंत्रण लागू नही होने चाहिये। शिक्षक अधिकाश में अन्य नागरिको की अपेक्षा अधिक विद्वान् तथा बुद्धिशाली होते है या होने चाहिये। फिर क्या कारण है कि वे जन-हित के कार्यो में नेतृत्व न करें और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओ में लोगो के विचारो को प्रगतिशील न बनाएँ। ये उनके लिये अशोभनीय है कि वे अपने से कम विद्या-बुद्धि वाले लोगो के हाथों की कठपुतली बने रहें।

शिक्षको के राजनैतिक दल विशेष के साथ सम्बन्ध की समस्या हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या हमारा जनतंत्र उनको साम्यवादी दल जैसे संगठन का सदस्य बनने की भी स्वीकृति दे सकता है, जिसका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का तानाशाही राज्य स्थापित करना है तथा जिसकी राजनैतिक विचार धारा और पद्धति जनतंत्र के उद्देश्यो की विरोधी है? पाश्चात्य जनतंत्र में इस प्रश्न को लेकर भयंकर वादविवाद खड़ा हो गया है और हमको भी भारत में जनतंत्र अपनाने के साथ साथ इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर ढूंढना होगा।

एक ओर तो यह वात कही जाती है कि यह जनतान्त्रिक शिक्षा के विरुद्ध है कि अपने से विभिन्न राजनैतिक दर्शन को अपनानेवाले नागरिको को किसी प्रकार की दण्डनीति से दवाया जाय। साम्यवादी दल या फासिस्ट दल का सदस्य होने से ही कोई अच्छा शिक्षक न वन सके यह वात निराधार है। सदस्य होते हुए भी वह संगीत, नृत्य, शिल्पकला या गणित का अच्छा शिक्षक वन सकता है। यदि हम केवल उन्ही को शिक्षा का काम सौंपते है जो वर्तमान राजनैतिक ढर्रे में विश्वास रखते है तो शिक्षा अप्रगतिशील वन जायगी और विकास के लिये जिस प्रगति और परिवर्तन की आवश्यकता है वह असंभव हो जायगा। जितने भी अपने मे विरोधी वाद तथा दर्शन है उनके समक्ष अपनी शक्ति का खुले रूप से अनुमान लगाने के लिये जनतंत्र को तैयार रहना है और इस कारण असफल भी होना पडे तो इस सकट को सहना है। अन्य विचार धाराओ को कृत्रिम ढंग से ग्रहण करने की अपेक्षा इस प्रकार के परीक्षण के पश्चात् जनतंत्र में विश्वास करना विद्यार्थियों के लिये अधिक हितकर है। २५

दूसरे पक्ष की विचार धारा इस प्रकार है—साम्यवादी दल वर्तमान राज्य सत्ता को हिंसा और अस्त्रवल से हटा देना चाहता है। इसके सदस्य वादविवाद तथा वैधानिक पद्धति को न अपना कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये गोपनीय तथा षड्यंत्रकारी पद्धति को अपनाते है। जनतंत्र विश्वासों तथा विचारो के मतभेद को सहता है परन्तु ऐसे विचारो को सहना तो घातक है जो स्वयं जनतंत्र को ही मिटा देना चाहते हों।

हिंसक व्यवहार के सामने यदि सहनशीलता को पराजित नही होना है तो उसकी भी एक सीमा होनी चाहिये। यदि उदारता को स्वय

---

२५. Frank E. Karelsen : A Layman Looks at Academic Freedom in *School and Society:* vol 69, No. 1789, April 2 1949, Pages 242–244.

अपना ही गला घोटने में आनंद नहीं आता हो तो जनतन्त्र पर कुठारा-घात करने वाले नागरिकों के प्रति उदार नीति रखना घातक है। हाँ यह बात ठीक है कि हम अपने प्रति अपना कर्तव्य पालन करने, अपनी संस्थाओं का मस्तक ऊँचा रखने तथा अपनी उच्च परम्पराओं में श्रद्धा होने के कारण, अपने अनुदार साथियों के लिये नहीं वरन् अपने ही लिये, अपने जनतन्त्र के गौरव स्वरूप सहनशीलता को अपनाते हैं। हमारे बीच जो साम्यवादी हैं उनके प्रति हमारा सहनशील व्यवहार भी इसी विचारधारा पर आधारित है। अत उनके प्रति तो हमारा कोई कर्तव्य नहीं है परन्तु हमारा अपने प्रति जो कुछ कर्तव्य है और जिसके फलस्वरूप हम उनके प्रति उदारता का व्यवहार करते हैं, वह भी उस समय समाप्त हो जाता है जब उनकी असहनशीलता इस सीमा तक बढ़ जाय कि वह स्वयं हमारे जनतन्त्र के लिये ही एक महान खतरा बन जाय और उसी को जड़ उखाड़ने पर उतारू हो जाय। २९

इन दोनों विचार-धाराओं में कुछ तथ्य है परन्तु इनसे स्पष्टतया इस प्रश्न का उत्तर नहीं प्राप्त होता कि क्या एक साम्यवादी शिक्षक को शिक्षण कार्य से हटा दिया जाय जब कि साम्यवादी दल एक राज्य-मान्य दल है? क्या एक शिक्षक के किसी दल का सदस्य बनने में कोई मूलभूत अनैतिकता या अवगुण है जो उसके कार्य के विरुद्ध है? क्या एक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह साम्यवादी दल का सदस्य हो फिर भी उसका मन इतना स्वतन्त्र हो कि वह सत्य की खोज में तत्पर रह सके? इन प्रश्नों के उत्तर पर ही यह निर्भर है कि हम साम्यवादियों को शिक्षक बनावें, या उनसे दूर का काम ही करने दें?

---

२९. T. V. Smith : Democratic Compromise and the Higher Learning at Seattle in *School and Society* Vol 69. No 1784. Feb 26, 1949. Pages 139—40

यह तो स्वीकार करना होगा कि साम्यवादी दल एक अनुशासित दल है और व्यक्ति को अपनी विचार धारा अपने दल की विचार धारा के आधीन कर देनी पडती है और पूर्णतया दल की आज्ञा पालन करनी पड़ती है। दल के बडों ने जो कार्य उसके लिये उपयुक्त समझा है वही उसे करना पडता है। २७

दूसरी ओर जनतान्त्रिक समाज में सत्य की शोध के लिये शिक्षक अपने विचारों और निर्णयो में स्वतंत्र होता है ताकि वह अपने विद्यार्थियों में तर्क की सामर्थ्य उत्पन्न कर सके। सत्यभक्ति को वह किसी राजनैतिक दल विशेष की भक्ति से ऊपर समझता है।

इससे यह स्पष्ट है कि यदि एक शिक्षक साम्यवादी दल का सदस्य बन जाता है तो वह अपना कर्त्तव्य मनोयोगपूर्वक नही निभा सकता। यदि समाज ऐसे व्यक्ति को शिक्षण कार्य से हटाता है तो वह इसलिये नहीं कि उसके अपने कुछ विश्वास है या वह किसी ऐसे संगठन विशेष में सम्मिलित है जो विभिन्न राजनैतिक सिद्धान्तो को मानता है, वरन् इसलिये कि उसकी वह सदस्यता जनतन्त्र के शिक्षक के रूप में उसको अपना कर्त्तव्य पालन करने देने में वाधक होगी।

ऐसे ही नैतिक आधार पर इस प्रश्न को हल किया जा सकता है। उस दल के सदस्य को इसलिये शिक्षण कार्य के अयोग्य नही ठहराया जाता कि वह उस दल से सम्बन्धित है। साम्यवादी दल की सदस्यता एक विशेष सदस्यता है, जो ज्ञानार्जन के नियमों का उल्लंघन और जनतंत्र के शिक्षक के मूलभूत आचरण का परित्याग करने वाली है। २८

---

२७. Sydney and Beatrice Webb : Soviet Communism A New Civilization Page 269.

२८. John L. Childs : "Communists and the Right to Teach" in *Nation*. Feb. 26. 1949.

ऐसा निर्णय कर के समाज शिक्षक से बौद्धिक पवित्रता की आशा रखता है और ऐसी निष्कपटता तथा सच्चाई का व्यवहार चाहता है जो शिक्षकों के सर्वमान्य नैतिक गुण हैं । यदि उसकी शिक्षा के प्रति श्रद्धा है और दल-भक्ति में विरोध है तो उसको एक का परित्याग करना चाहिये । समाज उसे अपने शिक्षक पद के द्वारा अपने दल के उद्देश्यों को प्राप्त करने का अनुचित लाभ उठाने का अवसर नहीं दे सकता । इस प्रकार शिक्षक की स्वतंत्रता में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो जाती । शिक्षा स्वातन्त्र्य का स्वयं अपने में कोई अर्थ नहीं है, जनतांत्रिक समाज के ढाँचे में ही वह कार्यान्वित हो सकती है ।

यह कसौटी सब राजनैतिक दलों पर लागू होगी, चाहे वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे दक्षिणपक्षीय हों चाहे साम्यवादी दल जैसे वामपक्षीय, जो शिक्षक को स्वतंत्र विचार करने का कोई अधिकार नहीं देते और जो अपने अन्य सब हितों को दल-हित के आधीन समझते हैं । यह स्थिति शिक्षा को राजनीति के आधिपत्य में ले जाती है, जो शिक्षा-स्वातन्त्र्य के विपरीत है ।

यहाँ हमको एक सावधानी रखने की आवश्यकता है । साम्यवादी दल के सदस्यों को शिक्षण संस्थाओं में स्थान न देना या उनको वहाँ से हटाना केवल निवृत्ति मार्ग हुआ जिससे यह समस्या हल नहीं हो सकती । समाजवाद की चुनौती को प्रवृत्ति मार्ग से अपनाना आवश्यक है । समाज को ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव हो । समाज की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें जिज्ञासा और अभिव्यक्ति को कुचला न जाय और जहाँ व्यक्ति या दल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये दूसरों का शोषण न करें । वर्तमान भारतीय जनतंत्र विरोधी संगठनों की आपत्ति को कम न आँकते हुए यह भरपूर शब्दों में कहा जा सकता है कि जनतांत्रिक भावना को वास्तविक खतरा उन निहित स्वार्थों से है जो जनगण का हनन करके जनतांत्रिक

सामाजिक और आर्थिक स्थिति बनाये रखना चाहते हैं। अत. जनतंत्र को हमारे समाज की सब अजनतांत्रिक शक्तियों और प्रवृत्तियो के विरुद्ध शक्तिशाली मोर्चा स्थापित करना चाहिये।

शिक्षकों को यह समझना चाहिये कि उनके शिक्षा-स्वातंत्र्य का प्रश्न समाज के आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता के बड़े प्रश्न के साथ गुथा हुआ है। वे व्यक्ति या दल जो इस बडे प्रश्न की अवहेलना करते है, शिक्षा-स्वातन्त्र्य के प्रश्न पर भी आघात करते है। इसलिये अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये शिक्षको को दो मोर्चों पर युद्ध ठानना है। एक ओर तो उनको अपना संगठन दृढ़ बनाना है, जिससे उनकी सेवाओ की और उचित अधिकारों की रक्षा सम्भव हो। दूसरी ओर उनको जनता के समक्ष सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नो को भी रखते रहना है जिनके साथ शिक्षा स्वातन्त्र्य का प्रश्न गुथा हुआ है। तभी वे जनमत में बौद्धिक स्वतन्त्रता के महत्त्व का समावेश कर सकेंगे, जो कि जनतन्त्र का मूलाधार है।

भारतीय युवकों का विद्रोह

भारतीय युवक आज हमारे सन्मुख एक कठिन समस्या उपस्थित कर रहे है, मुख्यतया वे जो स्कूलो और कालेजों में पढते है । शिक्षार्थियो और शिक्षकों का सभी जगह सघर्ष चलता रहता है। विद्यार्थी अधिकरियो से अपनी मनमानी करने की छूट चाहते हैं। समय समय पर वे प्रिन्सिपल को हटवाने, शिक्षको को बदलवाने, परीक्षा की तिथि को स्थगित करवाने या अपनी फीस में कमी करवाने में भी सफल होते है । यदि अधिकारी कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही करते है तो विद्यार्थी हडताल करते है और कभी कभी तो सीधा आक्रमण करने और अहिसात्मक तरीको को भी अपनाने से नही चूकते । अधिकारियो और विद्यार्थियो में अनेक बार ऐसी खुली टक्करें हुई हैं जब पुलिस को लाठी या गोली चलानी पडी है।

यह स्थिति उन सब लोगों के लिए बडी गभीर है जो युवको को शिक्षित करने या उनके पथ-प्रदर्शक बनने का कार्य भार अपने कधों पर उठाये हुए हैं । यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही तो हमारे भावी नागरिको के मन में नियम या अधिकार के प्रति कोई सम्मान नही रहेगा और उनमें उस आवश्यक अनुशासन का भी अभाव होगा जो प्रजातांत्रिक समाज के नागरिक में होना आवश्यक है।

कुछ लोगों का युवकों की इस समस्या पर एकांगी विचार है और वे समझते है कि इस सारी अनुशासनहीनता और विद्रोह का पूरा दायित्व विद्यार्थियो पर ही है। ऐसा समझनेवाले यह भूलते है कि किसी समाज के युवको के आदर्श और मनोवृत्तियां उसी समाज की भावनाओ और मानसिक चेतना द्वारा निर्मित होती है । अत. विद्यार्थियो पर दोषारोपण करने के पूर्व यह उचित होगा कि हम समाज में उन राजनैतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणो का अध्ययन और परीक्षण करें, जिनके फलस्वरूप यह असतुलित स्थिति उत्पन्न हुई है ।

पिछले वर्षों में जब विद्यार्थियों ने विदेशी सरकार के विरुद्ध आन्दोलन में भाग लिया था तब हमारे नेताओं ने उन्हें विदेशी सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये जुलूस निकालने, उससे असहयोग करने, शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार करने और हर प्रकार की विध्वंसक प्रवृत्तियों में भाग लेने के लिये विद्यार्थियो को प्रोत्साहित किया था । उस समय की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना और सत्ता को चुनौती देना देशभक्ति का चिन्ह समझा जाता था । इन आन्दोलनों में भाग न लेनेवाले विद्यार्थी राष्ट्र विरोधी समझे जाते थे । उस समय परिस्थिति में यह कोई अनोखी बात नहीं थी क्योंकि संसार के सभी विद्यार्थियो ने स्वातंत्र्य-संग्राम में प्रमुख भाग लिया है । ससार में विद्यार्थी सदैव ही प्राचीन ढर्रे के विरोधी रहे है । युवक आगे बढनेवाले होते है और राजनैतिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय के संघर्ष में उनके व्यक्तिगत स्वार्थ को बहुत कम हानि पहुँचती है । इसलिये वे उन लोगो की अपेक्षा अधिक स्पष्टवक्ता तथा साहसी होते है जो सामाजिक या राजकीय पदों पर सुशोभित है ।

आज हमारे नेताओ को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी युवकों की जिस विद्रोही मानोवृत्ति को नियन्त्रित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, उसकी जड भूतकाल में जमी है । विद्यार्थियों ने स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय का पाठ स्कूलो में शिक्षको द्वारा तथा जनमंच पर नेताओ द्वारा पढ़ा है । वे यह स्वप्न देखते रहे थे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् वे आदर्श कार्य रूप में परिणत होंगे परन्तु आज वे देखते है कि उनके नेताओ ने उन्हें धोखा दिया है । स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनो में नेताओ ने नवीन और उत्तम समाज बनाने के वादे किये थे और हर प्रकार का आश्वासन दिया था । युवको की उन आशाओं पर आज पानी फिर गया है और वे किंकर्तव्यविमूढ हो गये है । वे देख रहे हैं कि वे ही लोग; जो जनता की गरीबी, अशिक्षा और रुग्णावस्था जैसे सामाजिक दोषों का विरोध करने में अग्रगामी थे; आज अपने वचनो को ही नही भूले है वरन् उन सब निहित स्वार्थो का खुले रूप में साथ दे रहे है

जो जनसाधारण के शोषण पर ही स्थित है । समाज में चारो ओर भ्रष्टाचार और कालाबाजार फैला हुआ है और हम देखते हैं कि सरकार न केवल इन कार्यों को करनेवालो के विरुद्ध कोई सख्त कदम उठाने में असफल रही है वरन् कुछ नेताओ ने इन बातो को उचित सिद्ध करने के लिये तर्क-शक्ति का भी सहारा लिया है । स्वातंत्र्य-सग्राम के समय जिन आदर्शों को उन्होने जनता के सन्मुख रखा था वे आज उनकी आँखो से ओझल हो गये हैं । आज उनकी रुचि केवल अपने स्वार्थ साधन तक ही सीमित हो गई है इसलिये युवको का विश्वास अब उनके नेतृत्व में नही रहा और वे उनके आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिये व्यग्र हैं ।

स्कूलो ओर कालेजो में भी आज साधारणत नैतिकता का ह्रास दिखाई पड रहा है । शिक्षा-समितियो में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने, पाठ्य पुस्तकें चुनने और परीक्षको की नियुक्ति में बच्चो के हितो को शिक्षको के आर्थिक स्वार्थ द्वारा कुचल दिया जाता है । जब हमारे समाज का नैतिक स्तर ही इतना गिर चुका है तब युवको को उच्च नैतिक आदर्शों की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हो । यदि हम कालेज के छात्रो के जीवन पर दृष्टि डालें तो हमको एक धुंधला नैराश्य पूर्ण-चित्र दिखाई पडेगा । अनेक विद्यार्थी जो कालेज तक पहुँच चुके हैं अपनी आर्थिक कठिनाइयो से दु.खी हैं । हमारे देश में उच्च शिक्षालय तो मानो धनिको के लिये ही हैं । जो निर्धन व्यक्ति कालेज तक पहुँचते हैं उनको अपने निर्वाह के लिये घोर संघर्ष करना पडता है, जिसके फलस्वरूप उनमें अनेक मानसिक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं । भविष्य का अंधकार, नौकरी न मिलने या ठीक प्रकार की न मिलने का भय उनकी चिन्ताओ मे वृद्धि का कारण बनता है । मनोविज्ञान ने हमको बताया है कि व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये व्यक्ति में सुरक्षा की भावना का होना एक बुनियादी शर्त है और जब इसका अभाव होता है तो व्यवहार की अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं । हमारा समाज तो युवकों को आर्थिक सुरक्षा भी प्रदान नही कर सका है । बुनियादी आवश्यक्ताओं का

यह अभाव उनकी उच्चाकांक्षाओं की तो भला क्या पूर्ति करेगा ? इसी कारण से युवक का संतुलित विकास आज असंभव-सा हो गया है ।

हमारी शिक्षण संस्थाओं ने भी युवको के मार्गदर्शन का बहुत कम प्रयत्न किया है । हाई स्कूल तक न तो छटनी का और न मार्ग दर्शन का कोई अवसर है, जिसका फल यह होता है कि ऐसे हजारो विद्यार्थी जो उच्च शिक्षा के अयोग्य हैं, कालेजो और विश्वविद्यालयों में पहुंच जाते है और अत में वहां से निराश होकर निकलते है । परीक्षा और अंको द्वारा मूल्यांकन का सारा तरीका ही ऐसा है जो विद्यार्थी में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करता है और इसमें जो सब से ऊंची सीढी पर नहीं चढ़ सकता है उसे निराशा होती है । हमारे स्कूलो और कालेजों में युवको को साहसिक कार्य में भाग लेने का भी अवसर प्राप्त नहीं होता जो कि विकास की एक बुनियादी आवश्यकता है । परीक्षा में अंकों द्वारा केवल स्मरण शक्ति की योग्यता को आँकना युवक की उस प्रयोगात्मक शक्ति को नष्ट कर देता है जिसके द्वारा वह नवीन कार्यकरना चाहता है, जिसके कारण उसमें नवीन रुचि जाग्रत् होती है और जिसके फलस्वरूप वह नवीन ज्ञान प्राप्त करता है । युवकों के लिये अनेक प्रकार के धंधे, दस्तकारियां, खेल, समाजसेवा और विभिन्न प्रकार के ऐसे कार्यो की सुविधा रहनी चाहिये जिन्हें वे उस समय कर सकें जब पढाई लिखाई के कार्य से थक जायें । दुर्भाग्यवश आज हमारी शिक्षण-संस्थाएँ विद्यार्थियो को केवल पढ़ना लिखना सिखाना ही अपना कार्य समझती है और उनकी शक्तियो को उचित मार्ग में लगाने का अपना कोई कर्तव्य नही समझती । इस प्रकार युवकों की वह शक्ति, जिसका उपयोग रचनात्मक कार्य में होना चाहिये, वैसे ही छोड़ दी जाती है और उसकी अभिव्यक्ति असामाजिक कार्यो में होती है ।

आज भारत के युवकों में निराशा छाई हुई है और अपनी शक्तियों को राष्ट्र निर्माण में लगाने की अपेक्षा या तो वे उदासीन से बैठे रहने

है या विध्वसात्मक प्रवृत्तियो में फँस जाते है। जब युवकों की क्रियात्मक प्रवृत्तियो को तुष्टि नही मिलती तो वे सहज ही ऐसे अतिवादियो के हाथो में पड़ जाते है जो या तो सामाजिक और आर्थिक सुधारो के विरोधी है या समाज की वर्तमान व्यवस्था को उच्छृखलता द्वारा विगाड देना चाहते हैं। ऐसे दलो के लोग हृदय परिवर्तन की पद्धति के विरोधी होते है और अपना कार्य शारीरिक बल तथा अहिंसा द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं। आज भारत में दोनो ही प्रकार के दल कार्यशील हैं। एक महासभा और राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के रूप में और दूसरा साम्यवादियो के रूप में। युवक काग्रेस से असतुष्ट होकर इनमें से किसी न किसी में शरीक हो रहे है। प्रतिक्रियावादी दल युवको को हिन्दू राष्ट्र के पुनर्निर्माण के स्वप्न दिखाता है और क्रान्तिकारी उन्हें यह समझाते है कि समाज का नवनिर्माण विना हिंसा और वर्ग युद्ध के संभव नही है।

शिक्षा में अनुशासन की समस्या को भारतीय समाज की विस्तृत सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्या के एक अग के रूप में देखना होगा। यदि समाज में व्यक्तियो के, दलो के, और वर्गो के आपसी आर्थिक सवध स्वार्थपरता, ईर्ष्या, भय और घृणा उत्पन्न करने के कारण है जैसा कि आज के प्रतिस्पर्धी समाज में है ही—तो फिर स्कूल के लिये यह सभव नही है कि वह इन प्रभावो के विरुद्ध मोर्चा ले सके। साधारण आर्थिक विकास के समय में धार्मिक परपराएँ, विश्वास और आवश्यकता होने पर पुलिस वल निश्चित नैतिक नियमो का पालन करवाने के लिये पर्याप्त साधन हो सकते है परन्तु आर्थिक संकट के समय में सब नियत्रण टूट जाते है और इनसे अधिक कडे तथा शक्तिशाली अनुशासन के नियम लागू करने पडते है। दवा देने से रोग का निराकरण नही होता वह केवल दवता है और समय पाकर दुगुनी भयकरता से प्रकट होता है।

हमारे देश के कुछ शिक्षाविदो की राय है कि शिक्षण सस्थाओ के आचार्यो को शारीरिक दंड देने के पूर्ण अधिकार दे देने चाहिये। वे अन्य भी कई कड़े नियंत्रण नियम लागू करने की सिफारिश करते है, जैसे स्कूल से विद्यार्थी को निकाल देना या अगली कक्षा मे न चढाना आदि। वे यह नही देखते कि युवको में अनियत्रण और उच्छृंखलता उनकी आन्तरिक दूषित वृत्तियो के कारण नही है वरन् उसका कारण है हमारे आज के समाज की अस्तव्यस्त स्थिति। आज हमारे समाज के नैतिक तथा सामाजिक मूल्यो में परिवर्तन हो रहा है और हमारी शिक्षण सस्थाएँ तो इस सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिंब मात्र है। हमारे समाज मे जो दुर्गुण है उनसे ये सस्थाएं अपने को अछूता नही रख सकती। रोग के कारणो को न समझ कर और उन्हें दूर करने का प्रयत्न न कर के रोग के लक्षणो को दबाना अवश्य ही निष्फल और निराशाजनक सिद्ध होगा। शिक्षा में दंड या ऐसे ही अन्य शामक या दबानेवाले उपाय काम मे लाने की राय देनेवाले स्वय प्रतिक्रिया के मार्ग का अनुकरण करते है और समस्या को हल करने के बजाय उसे अधिक गहन और विषम बनाते है।

यह स्पष्ट रूपसे समझना आवश्यक है कि अधिकारियो की प्रतिक्रिया-वादी नीति तथा युवको का विद्रोह दोनों ही गहन सामाजिक सकट के प्रतिफल है। समाज के पुराने ढर्रे के लोग शामक पद्धति को इसलिये अपनाते हैं कि उनके अपने कुछ निहित स्वार्थ है और समाज का आर्थिक ढाँचा बदलने से उनको ठेस पहुँचती है। दूसरी ओर युवक और अन्य क्रान्तिकारी लोग अधिकारियो का इसलिये विरोध करते है कि वे उनके सामने अपने को दबा हुआ पाते है और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में उनके अरमानो को तुष्टि नही मिलती। प्रतिक्रिया और विद्रोह अन्यो-न्याश्रित है और ऐसी आर्थिक व्यवस्था के प्रतिफल है जो मुट्ठी भर लोगो को तो धन, विश्राम और जीवन के सभी आनंद उपलब्ध कराती

है पर जन–साधारण को जीवन की मुख्य आवश्यकताओ से भी वंचित रखती है। जब शोषित-वर्ग शोषक-वर्ग के निहित स्वार्थो पर आक्रमण करता है तो शोषित वर्ग शामक नीति को अपनाता है और इस प्रकार शमन और उपद्रव या अहिंसा का चक्र चलने लगता है जो अन्त मे समाज में विप्लव का कारण बनता है।

इस दुर्गति का निवारण तभी सभव है जब हम उन कारणो को दूर कर दें जो समाज में तनाव पैदा करते है और उसे अस्तव्यस्त बनाते है। इसके लिये हमको आज की प्रतिस्पर्धी सामाजिक व्यवस्था को पूर्णतया बदलना होगा जिसके कारण आर्थिक असुरक्षा, शोषण और घृणा समाज में घर किये हुए है। इसके स्थान पर ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था लानी होगी जो सहयोग पर निर्भर हो, जिसमें आर्थिक सुरक्षा हो और जो लोगो में आपसी मित्र-भावना और प्रेम उत्पन्न करे। लोग यह समझें कि उनके सब सामाजिक कार्यो में उन्हे हाथ बटाने का अधिकार है—जैसे व्यवस्था और उत्पादन, जो हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन के मूलाधार है। जब युवको को समाज में अपना स्थान और कार्य मालूम हो जायगा तो अनुशासन की समस्या अपने आप हल हो जायगी, उनकी उपयोगी क्रियाएँ उनके लिये महत्वपूर्ण सिद्ध होगी और उनमें आत्मनियत्रण की नई शक्ति उत्पन्न करेगी। बाहरी नियत्रण या दड की तब आवश्यकता नही रहेगी क्योकि सामाजिक भावना स्वय ही आत्मशासन का मुख्य श्रोत होगी।

जिस नये समाज की कल्पना हम करते है उसमें युवक स्वतत्रता का अनुभव करेगा और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व तथा नैतिकता को पूरी तरह से ध्यान मे रखेगा। उसके और समाज के हितो में कोई संघर्ष नही होगा। यदि कभी कोई संघर्ष हो भी गया तो सर्वसाधारण के लाभार्थ वह उसे समाज के आधीन कर देगा। हमारी शिक्षण-पद्धतियो को नये समाज की उन आवश्यकताओ को ध्यान में रखना चाहिये

जो आज उत्पन्न हो रही है। एक ओर हमको अधिकृत पद्धतियो का वहिष्कार करना चाहिये; जिनके फलस्वरूप आज्ञाकारिता, निर्भरता और गुलामी की भावना पनपती है और दूसरी ओर व्यक्तिगत स्पर्धा की नीति का भी वहिष्कार करना चाहिये; जिसके कारण युवकों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना जमती है।

शिक्षा की नई पद्धति का लक्ष्य होगा युवको को विचार करने, मनन करने और अपनी तत्पर वुद्धि का उपयोग करने का अवसर प्रदान करना और साथ ही साथ उन्हें यह भान कराना कि वे एक समूह विशेष के अंग है। दल में श्रद्धा और सामाजिक भावना का प्रभाव उनके विचारों और कार्यों पर रहेगा। अनुशासन किसी ऊपरी व्यक्ति से थोपा नही जायगा वरन् बहुमत अपने ऊपर तथा अल्प मतावलंवियों पर उसे लगायगा। शिक्षा में स्वतंत्रता का कोई अर्थ नही है, जब तक कि उसमें सामाजिक दायित्व का समावेश न हो।

ऐसा समाज निर्जीव है जो युवको की महान् शक्ति का उपयोग निर्माण के लिये नही करता। विना युवकों के सहयोग के समाज में क्रान्ति या सुधार द्वारा किसी प्रकार भी परिवर्तन होना संभव नहीं है। यदि हम समाज में व्यवस्थित परिवर्तन लाने के इच्छुक है तो हमें पुन युवकों में विश्वास करना होगा। आज हमारे समाज के सन्मुख दोहरा खतरा है, आन्तरिक और वाह्य, और इस संकट काल में हमारा अस्तित्व तभी संभव है जब हम शीघ्रता से युवको की गुप्त शक्तियो का उपयोग कर सकें। क्या हमारे वुजुर्गो में इतना साहस और सच्चाई है कि वे आज के सामाजिक तनाव के वास्तविक कारणों को समझेंगे और युवकों की शक्तियो को दवाने की अपेक्षा उनका उपयोग सामाजिक पुनर्निर्माण में करेंगे?

शिक्षा में स्वतन्त्रता

हिन्दुस्तान के स्वतंत्र होने के बाद जनतंत्र को यदि हम राज्य और जीवन का तरीका स्वीकार करते हैं तो उसकी पेचीदगी को भी हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इसका प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रो पर पड़ना अनिवार्य है और शिक्षा भी इससे बच नही सकती। जनतांत्रिक समाज के लिये आवश्यक हो जाता है कि उसमें अध्यापक को अध्यापन कार्य में पूर्ण स्वतत्रना हो। शिक्षा में स्वतत्रता का यही अर्थ है कि अध्यापक अपने मत को निर्भय होकर विद्यार्थियो के सामने प्रकट करना अपना अधिकार समझे। किसी भी विवादास्पद मसले पर मत प्रकट करने को अपराध समझकर शिक्षक को दण्ड देना या उस पर दबाव डालना किसी जनतात्रिक सरकार के लिये अनुचित तथा अशोभनीय है। अध्यापको का यह अधिकार सुरक्षित रहना चाहिये कि भाषण और मुद्रण द्वारा वे अपने विचारो को स्कूल में तथा स्कूल के बाहर व्यक्त कर सकें तथा उन सगठित आदोलनो का समर्थन कर सकें जिनको वे जनता के लिए हितकर समझते हैं और जो जनता को अपने अधिकार प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। स्कूल के बाहर अध्यापक पर कोई विशेष नियत्रण न होकर उतना ही होना चाहिए जितना साधारण जन पर होता है।

समाज का जनतात्रिक रूप में निरन्तर विकास हो सके इसके लिये समाज निर्माण करनेवाले व्यक्ति को बोलने और लिखने की पूर्ण स्वतत्रता मिलना आवश्यक है। अध्यापक समाज का सब से ज्यादा शिक्षित व्यक्ति होता है, वह समाज का बुद्धिशाली अग है। उससे आशा की जाती है कि वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि समस्याओ पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करे; जीवन के सब मामलो में मार्ग दर्शन करे और समाज को आगे बढाए। यदि उसको अपने विचारो और

अनुभवो का लाभ समाज को देने का अवसर नही मिलता है, उसकी बौद्धिक स्वतंत्रता छीन ली जाती है तो शिक्षा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शिक्षा को यदि किसी समुदाय या गुट विशेष के हितो का रक्षण करने का या उसके विचारो का समर्थन और प्रचार करने का साधन बनाया गया तो वह केवल जनतांत्रिक सिद्धांतो के विपरीत ही नही होगा वरन् स्वयं जनतत्र को ही वह समाप्त कर देगा। यदि हिन्दुस्तान में जनतत्र को कायम रखना है तो शिक्षक को स्वतंत्र बुद्धि से अनेक समस्याओ पर विचार करना होगा तथा विद्यार्थियो को भी इस योग्य बनाना होगा कि वे बडे होकर जनतंत्र के निर्माण तथा रक्षा में सक्रिय भाग ले सकें। इमी तरह शिक्षक अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि समाज में कुछ ऐसे भी दल है जो शक्ति और दबाव के प्रयोग से क्रान्ति लाना आवश्यक समझते है। परन्तु यह विचारधारा जनतांत्रिक विचारधारा की विरोधी है। जनतत्र का तरीका हृदय परिवर्तन का है, न कि भय या दबाव का। अत. यदि जनतत्र की विरोधी विचारधारा को पनपने की स्वतंत्रता दे दी गई तो स्वयंजनतंत्र को ही वह समाप्त कर देगी। विचार-स्वातत्र्य के फलस्वरूप मानव-स्वतंत्रता का अधिकाधिक विकास होना चाहिए। यदि किसी विचारधारा के कारण इसी की जड में कुठाराघात होता हो तो वैसी स्वतंत्रता कैसे दी जा सकती है? ऐसी स्थिति में ऐसे व्यक्ति की स्वतत्रता का छीनना भी जनतत्र का कर्तव्य हो जाता है।

यह ठीक तो है परन्तु जनतत्र को भी ऐसा कदम उठाने से पहले सोचना चाहिए कि आखिर देश के युवको में ऐसी सशक्त क्रान्ति की विचारधारा क्यो प्रवाहित हो रही है। किन राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थियों के फलस्वरूप युवको में ये ध्वंसात्मक प्रतिक्रियाएँ दिखाई पड रही है और तर्क तथा हृदय परिवर्तन के तरीको से उनका विश्वास हट रहा है? क्या यह सच नहीं है कि हमारे युवकों के असंतोष का

प्रधान कारण यह है कि आज हमारे समाज में कुछ ऐसे समुदाय है जो अपने विशेष आर्थिक अधिकारो को सुरक्षित रखना चाहते है और राज्य उनका समर्थन करता है? अत सबसे पहले राज्य को यह समझने की आवश्यकता है कि यदि वह जनतंत्र का विकास शाति और अहिंसा द्वारा करना चाहता है तो उन सब समुदायो को समाप्त करदे जो येन केन प्रकारेण अपने विशेषाधिकारो को कायम रखने का प्रयत्न कर रहे है। क्या जनतत्र के सब से बडे विरोधी वे लोग नही है जो काला बाजार करते है और अपने लाभ के लिए समाज का शोषण करते है तथा इस व्यवस्था को टिकाये रखने का प्रयत्न करते है?

हमे याद रखना है कि हम सक्रमण काल मे गुजर रहे है। एक स्थित समाज मे जीवन का एक विशेष ढर्रा या आदत होती है। परन्तु जब सामाजिक विषमता या परिवर्तन का युग होता है तब दो ही तरीके सामने होते है, एक हिंसा का, दबाव का और दूसरा हृदय परिवर्तन का, बुद्धि का। प्रतिक्रियावादी लोग परिवर्तन को दबाव या हिंसा द्वारा रोकना चाहते है और अपने हितो को सुरक्षित रखना चाहते है। ऐसी दशा में साधारण जन का विश्वास हृदय परिवर्तन या बुद्धि मे उठ जाता है और विपरीत रूप धारण कर लेता है। २९

हमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि लोगो का विश्वास बुद्धि मे तभी बढ सकता है जब उनको शिक्षा की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। जितना ही दबाव हम शिक्षा पर डालेंगे उसकी उतनी ही प्रतिक्रिया हिंसात्मक समर्थन के रूप मे होगी, न कि जनतान्त्रिक प्रवृत्तियो के रूप मे। तो क्या शिक्षक को ऐसे राजनैतिक दल का सदस्य बनने की भी छूट दी जा सकती है जो अहिंसा द्वारा समाज के परिवर्तन मे विश्वास करता हो? क्या ऐसे दल का सदस्य रहते हुए भी एक व्यक्ति अच्छा शिक्षक हो

---

२९ John Dewey · Problems of Men pp. 78–80.

सकता है ? आज दमारे देश में भी ऐसी ही दो विचारधाराएँ दिखाई पड़ती है जो हिंसा द्वारा समाज को बदलना चाहती है । एक साम्यवाद है और दूसरा राष्ट्रीय स्वयंमेवक संघ का रूप है । एक बायी तरफ से आती है, दूसरी दाहिनी तरफ से । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारे सामने एक ही मापदण्ड हो सकता है कि क्या शिक्षक अपने पेशे के प्रति जागरूक तथा कर्तव्यपरायण है और अपने पेशे के नैतिक धरातल के अनुरूप कार्य करता है ?

शिक्षक का पेशा उससे यह अपेक्षा रखता है कि वह सत्य की खोज करे और बालको को सत्य मार्ग पर लगाए । अपने राजनैतिक विचारो को सच्चाई से विद्यार्थियो के सामने रखे और शिक्षा में असत्य का प्रचार न करे । इन मर्यादाओं का पालन यदि शिक्षक करता है तो उसको किसी भी राजनैतिक दल का सदस्य बनने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यदि वह अपने पेशे की अपेक्षा अपने दल के प्रति विशेष कर्तव्यपरायण है तो ऐसे व्यक्ति के लिए स्कूल में कोई स्थान नही होना चाहिए।

साम्यवाद की चुनौती और शिक्षा

इस युग में हमको एक जबरदस्त चुनौती का मुकाबला करना है और वह है साम्यवाद की चुनौती। हमको यह स्मरण रखना चाहिये कि साम्यवाद केवल एक राजनैतिक कार्यक्रम ही नही है, परन्तु उसके पीछे एक दर्शन और विश्वास है। साम्यवाद एक ऐसा मत है जिसमें मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्रियाओ का समावेश है और जो आदर्शवाद की बुनियाद पर एक विशेष प्रकार के राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। बिना समझे तथा बिना उसके दार्शनिक सिद्धान्तो का विश्लेषण किये साम्यवाद को स्वीकार करना ऐसी ही मूर्खता है जैसी कि बिना समझे बूझे उसका तिरस्कार करना। हमारे देश में आज ये दोनो बातें मौजूद हैं। एक तरफ हमारे कई नौजवान बिना मार्क्सवाद का अध्ययन किये साम्यवाद को स्वीकार कर लेते हैं और दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जो बिना समझे बूझे साम्यवाद का विरोध करते है। हमारी दृष्टि से ये दोनो ही दृष्टिकोण गलत हैं।

हमको यह स्मरण रखना चाहिये कि साम्यवाद हमारे आधुनिक जीवन पर बडा जबरदस्त असर डाल रहा है। उसका असर दो तरह का है, एक ध्वंसात्मक और दूसरा क्रियात्मक। मार्क्सवाद तीन प्रकार से हमारे आधुनिक समाज पर और स्थित मूल्यो पर आक्रमण कर रहा है। ३०

मार्क्सवाद का प्रथम सिद्धान्त यह है कि अन्तिम वास्तविकता या सत्य भौतिक है। इस कारण मनुष्य के आर्थिक जीवन का उसके मन, वचन और कर्म पर बडा प्रभाव पडता है। जो विशेषाधिकारी वर्ग लोगो की शारीरिक आवश्यकताओ की उपेक्षा करके आध्यात्मिक तथा पारलौकिक

---

३० E H, Carr : The Soviet Impact on the Western World Pages 84–102

मूल्यो को चर्चा करता है वह अधिकार रहित वर्ग को केवल धोखा देता है । हमारा यह विश्वास बनता जा रहा है कि हमारे समाज का पुनर्निर्माण आर्थिक ढाँचे को सुधारे बिना हो नही सकता और इसमें भी कोई सन्देह नही कि इस विचार धारा को बनाने में मार्क्सवाद का जबरदस्त हाथ है ।

मार्क्सवाद केवल भौतिक ही नही वरन् द्वन्द्वात्मक (Dialectic) भी है । इस सिद्धान्त के अनुसार दुनिया विचारो के मेल तथा संघर्ष द्वारा निरतर आगे बढ़ती रहती है । एक विचार तथा वाद (Thesis) का विरुद्ध-विचार तथा प्रतिवाद से (Anti–Thesis) विरोध होता है । इस संघर्ष में न तो वाद ही की विजय होती है और न प्रतिवाद ही की । इसमें से एक नया सवाद (Synthesis) निकल आता है जो पुन एक वाद बन जाता है और फिर विरोध का क्रम प्रारम्भ हो जाता है । यह ऐतिहासिक क्रम और गति ही मार्क्स के अनुसार वास्तविक सत्य है । यह क्रम विचार बुद्धिगम्य (Rational) भी है क्योंकि यह जिस दिशा में जाता है उसका बुद्धि द्वारा अन्वेषण किया जा सकता है ।

मार्क्स के इस दूसरे सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक वाद (Dialectic) ने भी हमारे विचारों पर असर किया है । हम यह समझने लगे है कि समाज में सघर्ष अनिवार्य है । सामाजिक घटनाएँ स्थित नही वरन गतिशील है और उनको स्थित अवस्था में नही वरन् गतिक्रम में ही अध्ययन करना चाहिये । इस दृष्टि से इतिहास मत्र मामाजिक ममस्याओ को समझने की कुजी हो जाता है ।

मार्क्सवाद का यह मत है कि इतिहास के इस क्रम के बाहर कोई दूसरा स्वस्थ तथा पूर्ण सत्य नही है । इतिहास का क्रम पहिले से बद्ध है और मनुष्य को केवल उनके नियमो के अनुकूल चलकर उसको पूर्णता की तरफ अग्रसर करने मे सहायक होना है । मार्क्सवाद का यह मत है कि इन विभागो के अनुसार पूंजीवाद का अन्त और समाजवाद की स्थापना अनिवार्य है । इस इतिहास क्रम में सहायता करना ही नैतिकता है और

इसका विरोध करने का नाम ही अनैतिकता है। नैतिकता की और कोई दूसरी बुनियाद तथा मतलब नही हैं। साम्यवाद के लिये लक्ष्य ही प्रधान है, साधन सब गौण हैं। लक्ष्य प्राप्ति के लिये कोई भी साधन नैतिक दृष्टि से ठीक माना जा सकता है, बशर्ते कि वह हमको लक्ष्य की ओर अग्रसर करे।

मार्क्सवाद का तीसरा विचार, जो शिष्ट तथा मध्यम वर्ग के मूल्यो को जड़ से उखाडने का काम कर रहा है, वह है सापेक्षवाद (Relativism) इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ सोचता और विचारता है वह केवल उसके विचारने और इच्छा शक्ति का फल नही है पर यह उस स्थिति का परिणाम है कि जो मध्यम वर्ग की सदस्यता स्वीकार करने से निकलता है। यह सिद्धान्त धीरे धीरे मनुष्य को पूर्ण अविश्वास तथा सन्देह की तरफ ले जाता है। जिस बुद्धि द्वारा व्यक्ति सब मूल्यो पर सन्देह करने लगता है उसी बुद्धि द्वारा मनुष्य व्यक्तिवाद को भी नष्ट कर देता है। व्यक्ति की बुद्धि भी स्वतत्र नही है क्योकि वह सामाजिक परिस्थिति से प्रभावित होती है। इस प्रकार मार्क्सवाद यह साबित करने का प्रयत्न करता है कि हमारी जितनी भी विचार शृंखलाएँ है वे किसी विशेष युग के शासन करनेवाले वर्ग ही से निर्मित होती हैं। इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त ने पश्चिमी लोकतन्त्र की असफलता और कमजोरियो को ही सामने नही ला दिया है पर उसके नैतिक आदर्श और आधारो को भी सन्देह मे डाल दिया है क्योकि लोग समझने लगे हैं कि कही ये आधार और आदर्श भी अधिकारी वर्ग के लाभ और सुविधा के लिये तो नही है। परन्तु मार्क्सवाद सापेक्षवाद के सिद्धान्त (Relativism) का त्याग कर देता है जब कि वह यह स्थापित करता है कि श्रमजीवी और सर्वहारा वर्ग (Proletariat) का दूसरे वर्गो के ऊपर प्रभुत्व स्थापित होना चाहिये ताकि धीरे धीरे बिना वर्ग का समाज कायम हो सके। यही मार्क्सवाद की अन्तिम वास्तविकता या सत्य है और यही उसका क्रियात्मक रूप भी है।

साम्यवाद के बारे में एक बात और स्मरण रखनी चाहिये कि वह संसार के सर्वहारा (Proletariat) को मिला कर उनमें एकता तथा भ्रातृभाव पैदा करना चाहता है। साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है और वह उस संकुचित राष्ट्रीयता का विरोध करता है; जो दूसरी जातियो पर अपना अधिपत्य जमा कर अपनी जाति की तरक्की करती है।

सर्वहारा वर्ग प्रभुत्व स्थापित करने के साथ साथ मार्क्सवाद उस व्यक्तिवाद का भी अन्त कर देता है कि जहाँ व्यक्ति साधारण जन से अलग होकर अपनी योग्यता द्वारा विशेष अधिकारो की माँग करता है।

साम्यवाद जनसाधारण की प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। उसमें किसी वर्ग विशेष अथवा समूह विशेष का कोई विशेष अधिकार नही रहता, परन्तु बिना किसी भेद-भाव के वह जनसाधारण के अधिकारो की रक्षा करता है। परन्तु जहाँ साम्यवाद जनसाधारण को ऊपर उठाता है, उसी के साथ साथ वह मनुष्य की इकाई और व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। साम्यवाद समाज को अभिन्न व्यक्तियो का केवल एक समूह मात्र समझता है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद में समूह प्रधान हो जाता है और व्यक्ति समूह से किसी प्रकार अलग नही समझा जाता।

संक्षेप में मार्क्सवाद के ये मोटे मोटे सिद्धान्त है। इनमें कुछ सिद्धान्त तो ऐसे है कि जो परम्परागत लोकतन्त्र का समर्थन करते है। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए केवल राजनैतिक स्वतंत्रता ही काफी नही है वरन् आर्थिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है। लोकतंत्र के इस आधार को बिना व्यापक बनाये हुए लोकतन्त्र की नैतिक बुनियाद कमजोर होती है। यह सिद्धान्त भी साधारणतया मान्य होता जा रहा है कि वह पुराना व्यक्तिवाद कि जहाँ व्यक्ति को मनमाने रूप से प्राकृतिक सम्पत्ति के उपयोग करने का अधिकार हो, उसमें चाहे जनसाधारण का अहित भी हो, लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तो के प्रतिकूल पड़ता है।

निस्सन्देह हमको लोकतन्त्र को आगे बढाना पडेगा और उसके नैतिक आधारो को ज्यादा व्यापक बनाना पडेगा, जिसमे जनसाधारण का पूर्ण रूप से विकास हो सके। पर लोकतन्त्र में विश्वास करनेवाले यह स्वीकार नही करेंगे कि इसको प्राप्त करने के लिए वर्गयुद्ध आवश्यक है और उसके पश्चात् वर्गविहीन समाज की स्थापना करने के लिए कुछ काल के लिए सर्वहारा का प्रभुत्व भी अनिवार्य है। लोकतन्त्र का मार्ग हिंसा का नही परन्तु बुद्धि और प्रोत्साहन का है। इसके अलावा लोकतन्त्र को यह मान्य नही है कि लोकतन्त्र के लक्ष्य किन्ही भी साधनो से प्राप्त हो सकते हैं। उसके लिए साधन उतने ही महत्व रखते है जितने कि लक्ष्य। हिंसा और तानाशाही से सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना नही हो सकती है। लोकतन्त्र को यह भी स्वीकार नही होगा कि व्यक्ति केवल सामाजिक परिस्थितियो का कीडा मात्र है। व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियो से प्रभावित अवश्य होता है पर वह उन परिस्थितियो के विरुद्ध भी खडा होता है और वह इतिहास के क्रम को बनाता भी है।

इस प्रकार हम देखते है कि साम्यवाद म और पश्चिमी लोकतन्त्र के सिद्धान्तो में बडा गहरा विरोध है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो में और सयुक्त राष्ट्रो की सभाओ में लोकतान्त्रिक देशो के तथा सोवियट रूस के प्रतिनिधियो के मतो में जो फर्क नजर आता है, वह केवल बाह्य मतभेद ही नही वरन् विचारो और आदर्शो से सम्बन्धित बडा गहरा मतभेद है। यहाँ हमको यह विचार करना है कि यह विरोध किस प्रकार मिटाया जा सकता है और क्या लोकतन्त्र और साम्यवाद के विचारो और सिद्धान्तो में सघर्ष अनिवार्य है। जिन आर्थिक, राजनैतिक, और दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर आदर्श समाज की कल्पना रूस और अमेरिका कर रहा है उसमें बडा विरोध है और वह समस्या केवल ऊपरी बातचीत और समझौते से हल नही हो सकती।

जो लोग यह समझते हैं कि साम्यवाद शक्ति द्वारा दबाया जा सकता है वे बड़ी भूल कर रहे हैं। साम्यवाद लोकतन्त्र के आदर्शों को चुनौती दे रहा है। अतः सर्व प्रथम लोकतन्त्र को अपने नैतिक आधारों का परीक्षण करना चाहिये कि वे कहाँ तक व्यवहार में कार्यरूप में परिणत किये जा सकते हैं। जहाँ जहाँ हमको लोकतन्त्र के आदर्शों और व्यवहारों में भेद दिखाई देता है, वहाँ वहाँ हमें उस भेद को मिटाना चाहिये। साम्यवाद आदर्शों की चुनौती दे रहा है; जिसका मुकाबला लोकतन्त्र के आदर्शों को आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में व्यवहार में लाने से किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि लोकतन्त्र को मार्क्सवाद के कुछ सिद्धान्त, जो जन साधारण की आर्थिक समानता और न्याय से सम्बन्धित हैं, स्वीकार कर लेने चाहिये। लोकतन्त्र को अधिक लोकतान्त्रिक होने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जो लोकतन्त्र के आदर्शों के अनुकूल नहीं हैं और जिनका उसमें किसी भी प्रकार समावेश नहीं हो सकता। इस विरोध को मिटाने के लिये शिक्षा कुछ हद तक सहायक हो सकती है। हमको चाहिए कि हमारे स्कूलों और कालेजों में मार्क्सवाद का अध्ययन अच्छी तरह से हो। मार्क्सवाद का अध्ययन करने में किसी प्रकार की रोक नहीं होनी चाहिये। हमको उसके सिद्धान्तों का और तरीकों का खूब अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिये; जिससे तुलनात्मक रूप से हमको लोकतन्त्र की अच्छी और बुरी बातें, उसकी सफलता और विफलता, उसकी निर्बलता और शक्ति दोनों ही पक्षों का ज्ञान हो सके। इस समय जब कि दुनियां दो विचार धाराओं और आदर्शों के संघर्ष में पड़ी हुई है, तब शिक्षा का यह सर्वोपरि कर्तव्य हो जाता है कि इन दोनों मतों का खूब अध्ययन कराये और उन पर चर्चा करें। ३१

---

३१. James Bryant Conant: Education in a divided World Pages 215–16.

यह तो स्पष्ट हैं कि साम्यवाद और लोकतन्त्र के सामाजिक आदर्शों में गहरा विरोध है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनका एक दूसरे में समावेश नही हो सकता, पर यह असभव नही हैं कि इन दोनों के आदर्शवाद और सिद्धान्तो को छोड़कर ऐसे सिद्धान्तो पर पहुँचा जाये कि जिनमें इन दोनो सिद्धान्तो का समीकरण हो सके। ऐसा करने के लिये यह आवश्यक है कि हम शिक्षा द्वारा व्यापक से व्याप्य को पहुँचने की कोशिश करें। हमको सस्कृति के पीछे की पूर्व भावनाओ और कल्पनाओ को समझना पडेगा क्योकि निस्सन्देह हमारी सस्कृति में, जो आधुनिक विचारधाराएँ और सामाजिक सस्थाएँ हैं, वे उन कल्पनाओ और भावनाओ से प्रभावित होती हैं। जब हम व्यापक से व्याप्य तक पहुँचने की चेष्टा करेंगे तब हमको ज्ञात होगा कि रूस के साम्यवाद के पीछे मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्त है, जो आर्थिक मूल्यो को अत्यधिक महत्व देते है। अमेरिका के लोकतन्त्र के पीछे टामस जेफरसन, जॉन एडम्स, और जॉन लॉक के सिद्धान्तो का गहरा प्रभाव है, जो व्यक्तिवाद का समर्थन करते है। भारतीय सस्कृति पर उपनिपदो का वडा गहरा प्रभाव है, जो सासारिक जीवन को अधिक महत्व नही देते। आधुनिक संस्कृतियो को समझने के लिये उनके पीछे का इतिहास, वियोजक रीति से हमको समझना पडेगा। ऐसा करने से सम्भव है कि हम उन सिद्धान्तो का निर्माण कर सकें कि जो विरोधी मतो का समीकरण करने में समर्थ हो। आजकल की शिक्षा का यह महत्वपूर्ण कार्य हो जाता है कि वियोजक रीति से हम भिन्न भिन्न सस्कृतियो का अध्ययन कर सकें। ३२

साम्यवाद के विपय में हमको यह भी जानना है कि साम्यवाद अपने मत का प्रचार करने के लिये, जितने भी साधन उपलब्ध हो सकते हैं, उनको काम में लाता है। साहित्य, नाटक, सगीत, विज्ञान, शिक्षा, ये

---

३२. F. S C. Northrop: The Logic of Sciences and Humanities Pages 311–327.

सभी साम्यवाद प्रचार के जवरदस्त शस्त्र है।३३ साम्यवाद में शिक्षा का यह प्रयोजन समझा जाता है कि वह स्पष्ट आशयपूर्ण और क्रमानुसार शिक्षार्थी के मन को उन सव गुणो से प्रभावित करे जिनको शिक्षक वान्छनीय समझता है। इसका मतलव है कि शिक्षा द्वारा उस विशेष दृष्टि कोण, नैतिकता और चरित्र का निर्माण करना, जो साम्यवादी समाज का निर्माण करने के लिये आवश्यक है।३४

साम्यवादी शिक्षा का यह काम है कि पूंजीवादी समाज में श्रमजीवी और वुद्धिजीवी में जो विरोध है, और जिस विरोध के कारण शिक्षा में दो स्तर वन गये है, उनको समाप्त कर दे। एक स्तर पर हम देखते हैं कि कुछ लोगो को शिक्षा की सव सुविधाएँ प्राप्त है और उनके लिये अच्छी से अच्छी शिक्षा का प्रवन्ध किया जाता है और दूसरी ओर शिक्षा का कोई साधन नही है और लोगो को निरक्षर रखा जाता है। शहरवालो की और ग्रामीण लोगो की शिक्षा के स्तर में भी वडा अन्तर है। इसी प्रकार शहरो में भी मजदूर वर्ग और शिष्ट वर्ग की शिक्षा में वडा भेद है। साम्यवाद इस भेद-भाव को मिटाना चाहता है और सव लोगो के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा का आयोजन करता है। साम्यवादी शिक्षा का एक ही लक्ष्य है और वह यह कि विना वर्ग का ऐसा समाज वनाना जिसमें मानव मानव के वीच के सव प्रकार के कृत्रिम भेदभाव मिट जायें। १९१७ से लेकर अव तक रूस में शिक्षा का यही लक्ष्य रहा है। परिस्थितियो के कारण इधर उधर कही शिक्षा के खर्च में कमी करनी पड़ी हो या रुकावट रही हो पर शिक्षा के इस अन्तिम लक्ष्य से साम्यवाद कभी भी विचलित नही हुआ।३५

---

३३. George S. Counts and Nucia Lodge: The Country of the Blind.

३४. M. I. Kalinin: On Communist Education Page 126

३५. Maurice J. Shore: Soviet Education Pages 254–255 and 259.

साम्यवादी शिक्षा के और लोकतान्त्रिक शिक्षा के केवल लक्ष्यो में ही अन्तर नही है पर उसके तरीको में भी बडा अन्तर है। साम्यवादी शिक्षा का काम राजनैतिक चेतना और सास्कृतिक जागृति से किसी प्रकार भिन्न नही है। साम्यवादी शिक्षा केवल विचारो में ही नही रहती, वह पूर्ण रूप से व्यावहारिक है। साम्यवादी दल और सोवियत राज्य के वह सदैव आधीन रखी जाती है। उसका यह काम है कि वर्ग सघर्ष में वह मजदूरो को अधिक से अधिक सहायता दे और श्रमजीवियो को यह महसूस करादे कि जो भी काम वे कर रहे है वह समाज के लिये है। साम्यवादी शिक्षा का यह सर्वोपरि काम होता है कि श्रम द्वारा उत्पादन की मात्रा तथा गुण दोनो में वृद्धि करे।

साम्यवादी शिक्षा यह भी प्रयास कर रही है कि विद्यार्थियो में समाजवाद के जन्म स्थान सोवियत भूमि रूस के प्रति देश भक्ति उत्पन्न हो। मजदूरो को यह सिखाया जाता है कि वे रूस के उन सब पूर्वजों के जीवन की जानकारी प्राप्त करें कि जिन्होने रूस को आगे बढाने के लिये बलिदान किया है। बच्चो को रूस का इतिहास, साहित्य, विज्ञान अध्ययन करने में अपने आपको गौरवान्वित समझना चाहिये। साम्यवादी शिक्षा का यह काम है कि मजदूरो में प्रगाढ देश भक्ति पैदा करे जिससे मजदूर शत्रु के प्रति किसी प्रकार का दयाभाव न दिखावें और अपने देश के लिये कठिन से कठिन बलिदान करने से न चूकें। ३६

साम्यवाद चूंकि समूह को व्यक्ति से ऊपर समझता है, साम्यवादी शिक्षा के लिये यह तो स्वाभाविक है कि बच्चो को बराबर समूह का ज्ञान करावे। उत्पादन करने में, दैनिक जीवन में, तथा सामाजिक व्यवहार में ऐसी स्थिति पैदा कर देना है कि जिससे समूह की भावना हमारी आदत और व्यवहार का एक अग हो जाय ; विचारपूर्वक शिक्षा द्वारा

---

३६. M. I. Kalinin. On Communist Education Pages 147-154

समूह की भावना को इतना पक्का करना है कि वह एक जन्मजात प्रवृत्ति हो जाय।

ऊपर बताये हुवे साम्यवादी शिक्षा के सिद्धान्तों और साधनो में यह स्पष्ट है कि शिक्षा साम्यवाद का प्रचार करने के लिये एक शक्तिशाली शस्त्र है।

लोकतन्त्र तानाशाही के अनुचित तरीके यद्यपि काम मे नही ला सकता है, पर लोकतन्त्र को साम्यवादी शिक्षा में सबक ग्रहण करना चाहिये। लोकतन्त्र को यह साफ समझना है कि यदि लोकतान्त्रिक मूल्यो के प्रति शिक्षा उदासीन रहती है तो लोकतन्त्र अपनी कब्र अपने ही हाथो से खोदता है। साम्यवाद अपने मत का प्रचार करने के लिये तरह तरह के शस्त्र काम में ला रहा है; उनमें शिक्षा एक जबरदस्त शस्त्र है और लोकतन्त्र में यदि शिक्षा उदासीन रहती है तो इन दोनो विरोधी मतो में किसकी विजय होगी यह स्पष्ट देखा जा सकता है। इस खतरे के समय जब प्रचार द्वारा लोकतन्त्र की नीव को उखाडने का प्रयत्न किया जा रहा है, लोकतान्त्रिक शिक्षा का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रति नागरिको के मन में श्रद्धा उत्पन्न करे। लोकतन्त्र अपने सिद्धान्तो के अनुकूल यह अवश्य ख्याल रखेगा कि जो विश्वास बनाये जायें वे अन्धविश्वास न हो, बुद्धि और तर्क द्वारा बने हुए हों।

लोकतान्त्रिक शिक्षा का यह भी काम हो जाता है कि अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना जाग्रत करे। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी भाषा, प्रदेश, आर्थिक-जीवन और मनोवैज्ञानिक रचना होती है, जो समान संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। किसी भी राष्ट्र के स्वस्थ जीवन के लिये यह आवश्यक है कि उसके सांस्कृतिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो और उसको यह पूर्ण अवसर हो कि वह अपनी संस्कृति का स्वेच्छानुसार विकास कर सके।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में वही सम्बन्ध है जो व्यक्ति और समूह में है। समूह में रह कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को खोता नही है पर उसकी पूर्णता को प्राप्त करता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता सार्थक और सम्भव तब ही होती है जब कि समूह मे काम करनेवाले व्यक्तियो के समान उद्देश्य हो। इसी प्रकार भिन्न भिन्न राष्ट्र अपना व्यक्तित्व और भेद रखते हुए भी मानवता के उत्थान और सुख का समान उद्देश्य अपने सामने रखे तो राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में किसी प्रकार का विरोध होने की आशका नही है।

यह अवश्य है कि पिछले वर्षो मे सकुचित राष्ट्रीयता ने, जिसके द्वारा दूसरे राष्ट्रो पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया गया और दूसरी जातियो का आर्थिक शोषण हुआ; विश्व की शान्ति को हानि पहुँचाई है और अन्तर्राष्ट्रीय मेल पैदा करने में बाधा डाली है पर इससे यह परिणाम निकालना कि राष्ट्रीयता सदैव हानिकारक है बहुत बडी भूल होगी। राष्ट्रीयता व्यक्तित्व का केवल व्यापक रूप है। राष्ट्र मे व्यक्ति अपना समीकरण कर देता है और उसी के द्वारा अपना निजी विकास तथा अपनी सस्कृति की रक्षा समझता है। इस कारण राष्ट्रीयता को मानव समाज से हटाने का प्रयत्न करना निरर्थक है। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि राष्ट्रीयता को उसके दोषो से मुक्त कर दे। राष्ट्रीयता के प्रभुत्व को हमें दो दृष्टियो से देखना चाहिये। राष्ट्र के आन्तरिक जीवन (Interna of national life) जैसे भाषा, धर्म, शिक्षा और रस्म रिवाजो मे सम्बन्धित मूल्यों का विकास करने का प्रत्येक राष्ट्र को पूर्ण अधिकार होना चाहिये, बशर्ते कि वह अधिकार दूसरे राष्ट्रो को हानि न पहुंचाता हो। बाह्य जीवन (Externa of national life), जैसे राजनैतिक, आर्थिक आदि, का अन्य राष्ट्रो के साथ सबके लाभ के लिये एकीकरण होना चाहिये। ३७

---

३७. Robert Ulich : Conditions of Civilized Living. Pages 170–177 and Pages 214–216.

इस प्रकार यदि हम अपनी राष्ट्रीयता का विकास करें तो प्रत्येक राष्ट्र अपनी सस्कृति का विकास करता हुआ दूसरे राष्ट्रो के साथ बड़े मेल के साथ काम कर सकता है। लोकतान्त्रिक शिक्षा का यह काम है कि राष्ट्रीयता के प्रभुत्व को इसी द्वैत अवस्था में देखे और उसके आन्तरिक और वाह्य जीवन का इसी दृष्टि से विकास करे कि राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास के साथ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी राष्ट्रो में परस्पर मेल बढता जाय।

लोकतन्त्र यदि अपने नैतिक मूल्यो के प्रति बराबर सजग रहे और शिक्षा का उपयोग अपने मूल्यों की प्राप्ति के लिये करे और उनको व्यवहार में लाने में अपनी पूर्ण शक्ति लगा दे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह साम्यवाद की चुनोती का मुकाबला कर सकेगा। साम्यवाद से मुकाबला करने का तरीका शक्ति और हिंसा नहीं, वरन् नैतिकता है, जो सच्चे लोकतन्त्र का आधार है।

नये समाज में शिक्षक का स्थान

नये समाज की विशेषता यह है कि उसमें योजनायें बनाना अनिवार्य हो गया है। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें किसी न किसी प्रकार की योजना की आवश्यकता न हो। बीती हुई शताब्दी में हमने योजना रहित समाज के दुष्परिणाम देखे हैं। गरीबी, भुखमरी, बीमारी आदि योजनारहित समाज के दुष्परिणाम हैं। आज समाज में जितनी अस्तव्यस्तता है, उसका प्रधान कारण यही है कि हमने अपने जीवन की कोई योजना नहीं बनाई है। योजना न होने के कारण व्यक्तियों ने व्यक्तित्व के विकास के बहाने समाज का मनमाना शोषण किया है। इस समय समाज में जितना उपद्रव और विप्लव है उस को देखने के बाद भी कोई व्यक्ति मनमाने व्यक्तिवाद को यदि कायम रखना चाहता है तो वह निःसन्देह स्वार्थवश ही ऐसा करता है। वास्तविकता को यदि हम देखें और निष्पक्ष होकर विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि व्यक्तिवाद के आधार को हटा कर समाज के आधार पर ही समाज की योजनाएं बननी चाहिए।

समाजवाद एक तरफ लोकतन्त्र की रक्षा करना चाहता है और दूसरी तरफ योजना द्वारा समाज में सन्तुलन और एकता स्थापित करना चाहता है। इन दोनों लक्ष्यों में ऊपर से देखने पर हम को विरोधाभास नजर आता है परन्तु गहराई से जब हम इनको देखते हैं तो हमें समझ में आता है कि लोकतन्त्र और योजना विरोधी नहीं हैं परन्तु एक दूसरे के पूरक हैं। जिस समाज के ढांचे में व्यक्तियों को राजनैतिक स्वतन्त्रता तो है पर आर्थिक परिस्थिति के कारण वे अपना विकास नहीं कर पाते, तो वैसी स्वतन्त्रता उनके लिए निरर्थक है। पर यदि योजना द्वारा लोगों पर थोडा सा अनुशासन बढने से उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का

थोड़ा अपहरण होता है परन्तु यदि उसके द्वारा विकास करने का सभी लोगो को पूर्ण रूप से अवसर मिलता है तो यह स्वतन्त्रता का वास्तविक अपहरण नही है। लोकतन्त्र का सम्बन्ध जीवन के विकास से है और जो भी योजना हमको विकास की तरफ ले जाती है वह लोकतान्त्रिक सिद्धातो के प्रतिकूल नही वरन् अनुकूल है।

जो समाज समाजवाद के आधार पर निर्मित होगा, उसमें शिक्षक का क्या स्थान होगा और उसका क्या कर्तव्य होगा, यह हमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तरफ व्यक्तिवाद के आधार पर बना हुआ समाज है कि जहाँ शिक्षक मनमानी करता है; जैसी पाठ्य-पुस्तक वह चाहता है पढ़ाता है, मनमानी पद्धति का अनुसरण करता है और उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध समाज तथा राज्य का नहीं है। दूसरी तरफ तानाशाही समाज है जहाँ पाठ्य-पुस्तक, पाठ्य-क्रम और पाठ्य-विधि, सभी केन्द्रीय सत्ता मे निर्धारित होते हैं। शिक्षक को कोई अधिकार नही है कि वह निश्चित् मार्ग मे जरा भी इधर उधर हो। उसके सामने राज्य का एक निश्चित् आदर्श रख दिया जाता है और सब साधन उसी के अनुकूल बना दिये जाते है।

समाजवाद एक तरफ व्यक्तिवाद से विमुख हो जाता है और दूसरी तरफ तानाशाही का विरोध करता है; इसलिए समाजवाद में शिक्षक को स्वार्थपरायण, व्यक्तिवादी तथा स्वतन्त्रता को अपहरण करनेवाली तानाशाही इन दोनो के बीच का रास्ता निकालना पड़ेगा।

उसे बराबर यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि उसकी श्रद्धा और भक्ति लोकतन्त्र में अटल बनी रहे। जिस ओर से भी लोकतन्त्र पर आघात हो, चाहे वह व्यक्तिवाद की तरफ से हो या तानाशाही की तरफ से, उसका उसे प्रतिकार करना है।

शिक्षा का काम है कि सत्य की निरन्तर खोज करे और खोज के जो भी निष्कर्ष हों उन्हें समाज के सामने रखे। लोकतन्त्र का सार यही है

कि स्वतन्त्रतापूर्वक उन सब मसलो पर वाद-विवाद और विचार-विमर्श होता रहे जिनका असर हम पर, हमारे धन्धो पर, हमारे धर्म-सगठन पर, हमारे पास-पडोस पर और कुटुम्ब पर पडता है। लोकतन्त्र भिन्न मत को तथा विरोध को स्वीकार करता है, उसको कभी दवाता नहीं। जहाँ सत्य को तथा विरोधी मत को दवाया जाता है वहाँ स्वतन्त्रता नही रहती वरन् अनियन्त्रित शासन हो जाता है। अनियन्त्रित शासन में ज्ञान राजनैतिक लक्ष्य का साधन मात्र वन जाता है परन्तु लोकतन्त्र में ज्ञान का लक्ष्य सत्य की खोज होता है। जो अध्यापक किसी भी राजनैतिक उद्देश्य के लिए सत्य को तोडता-मोडता है वह लोकतान्त्रिक आदर्श के साथ विश्वासघात करता है फिर चाहे उसका लक्ष्य कुछ भी हो। लोकतन्त्र में शिक्षार्थी को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह सत्य की खोज करे और उसको प्रदर्शित करे। चाहे वह कितना भी कटु हो और स्थित मूल्यो के कितना ही प्रतिकूल हो। अध्यापक वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करे और उसे निर्भयता मे, विना किसी पक्षपात के, समाज के सामने रखे। अध्ययन और अध्यापक की स्वतन्त्रता राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है। ३८

इस युग में जव कि योजना अनिवार्य हो गई है और राज्य के अधिकार और नियन्त्रण वढते जा रहे हैं इस वात की अत्यन्त आवश्यकता है कि शिक्षक को विचारने की और अध्यापन की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। यह अवश्य है कि वह राज्य का कर्मचारी है और उसका सेवक है परन्तु यह असम्भव है कि वह राज्य के भले और बुरे सभी प्रकार के प्रचार का केवल वाहक और प्रचारक मात्र हो जाय। राज्य के लिए उसमें भक्ति होनी चाहिए परन्तु उससे भी अधिक भक्ति उसकी अपने धन्धे तथा समाज के लिए है। शिक्षक वर्ग पर यदि अत्यधिक नियन्त्रण

---

३८. R. W. Rich : The Teacher in a Planned Society. Pages 60–61.

होगा और फौजी तरीके से उनको ढालने का प्रयत्न किया जायगा तो यह तरीका लोकतन्त्र को जड मूल से उखाड देगा। जो शिक्षक स्वतन्त्र रूप से विचार नही सकते और अपने विचारो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नही कर सकते वे कभी भी विवेकपूर्ण, विचारवान नागरिक नही तैयार कर सकते। उनके जरिये तो केवल ऐसे ही लोग तैयार होगे जो हमेशा दूसरो की राय से चलनेवाले होगे और स्वयं विवेक और विचार मे शून्य होगे। गुलामी में जकडा हुआ अध्यापक ही ऐसी परिस्थिति बनाने का सब से बडा भागी होता है जिसमे अनायास ही तानाशाही की स्थापना हो जाय।

लोकतान्त्रिक समाज मे विचारो को प्रकट करने पर प्रतिबन्ध लगाने का एक ही अवसर है और वह तब जब कि व्यक्ति ऐसे तरीको को अमल मे लाये, जो लोकतन्त्र को ही उखाड दें। लोकतन्त्र यह विश्वास करता है कि राज्य का परिवर्तन विचारविनिमय तथा हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। इसलिए लोकतन्त्र उन तरीको के प्रति उदारता नही दिखा सकता जो हिंसा द्वारा समाज में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते है। यह लोकतन्त्र की मर्यादा है। इस मर्यादा का पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूरा अधिकार है कि अपने मत का और विचारो का खुले आम प्रचार करे।

आजकल के समाज में इतने विवादास्पद प्रश्न हमारे सामने है कि शिक्षक उनके प्रति उदासीन नही रह सकता। जैसा कि ऊपर बताया गया है, शिक्षक का काम सत्य की खोज करना है और शिक्षक जब सत्य का समर्थन करता है तो वह सत्य के प्रति उदासीन नही रह सकता। उसको निर्भयतापूर्वक जीवन के उन सच्चे मूल्यो का, जिनमें उसका विश्वास है, समर्थन करना चाहिए तथा शिक्षा द्वारा लोगो में उनके प्रति विश्वास पैदा करना चाहिए। यदि हम इतना नही करते तो लोकतन्त्र कायम नहीं रह सकता और शिक्षक की जो समाज के प्रति जिम्मेदारी है उसको वह पूरी नही कर सकता।

शिक्षक को यह मालूम होना चाहिए कि शिक्षा का आधार नैतिकता है और शिक्षा का सम्बन्ध जीवन के मूल्यो की प्राप्ति मे है। जब हम जीवन के मूल्यो का जिक्र करते हैं तो स्वाभाविक रूप से ही हमको अच्छे और बुरे मूल्यो में भेद करना पडता है। अच्छे मूल्यो को हम स्वीकार करते हैं तथा बुरे मूल्यो का त्याग। शिक्षा निरन्तर अच्छे मूल्यो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती रहती है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा जीवन के मूल्यो के प्रति उदासीन नही हो सकती। आजकल जो समाज की दुर्दशा है उसका मुख्य कारण यही है कि समाज में जीवन के अच्छे मूल्यो के प्रति उदासीनता है। नवीन शिक्षा का सब से बडा काम यह है कि मनुष्य मे जीवन के सद् मूल्यो के प्रति चेतना जाग्रत् करे, जिसके फलस्वरूप उन मूल्यो की प्राप्ति के लिए लोग सजग और सक्रिय रूप से बराबर प्रयत्न करते रहें। ऐसा करने पर ही लोकतन्त्र प्रगतिशील हो सकता है और समाज का निरन्तर पुनर्निर्माण हो सकता है। शिक्षक को यह स्पष्ट मालूम होना चाहिए कि चाहे वह इतिहास, विज्ञान, भूगोल गणित पढाए या लकडी का काम सिखाए, उसका प्रधान काम है जीवन के मूल्यो के प्रति आस्था और विश्वास पैदा करना। आज हमारे समाज की दुर्दशा का एक कारण यह है कि हमारे यहाँ ज्ञान का तो विकास हुआ मगर जीवन के मूल्यो के प्रति हम उदासीन रहे हैं। इस उदासीनता को जब हम मिटा सकेंगे और ज्ञान और शिक्षा को जीवन मूल्यो की प्राप्ति का साधन बना सकेंगे तभी हमारे समाज का नव-निर्माण हो सकेगा और आज के शिक्षक का यही सबसे बडा काम है।

शिक्षक और समाज संघर्ष

शिक्षक समाज का अगुआ समझा जाता है। इसका मतलब यह है कि जितनी भी समाज की प्रवृत्तियां है उनसे शिक्षक की जानकारी हो और वह उनको समाज को आगे बढ़ाने में लगा सके। इस समय जब कि समाज की विपरीत प्रकृतियो में संघर्ष चल रहा है, शिक्षक उदासीन नही रह सकता। शिक्षक के नाते उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रगतिशील शक्तियो का समर्थन करे और उनकी पुष्टि करे। समाज आगे बढता है या पीछे हटता है; एक स्थान पर स्थिर नही रह सकता। शिक्षक यदि समाज की परिस्थिति की तरफ उदासीन रहता है तो वह समाज को पीछे खीचता है और इस माने में उसमें और प्रतिक्रियावादी लोगों में अधिक अंतर नही समझा जा सकता। इसलिये यहाँ हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक शिक्षक, जो अपना सामाजिक कर्त्तव्य समझता है, हमेशा प्रगतिशील होगा और प्रगतिशील शक्तियों का समर्थक होगा।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि जनतंत्र में किस प्रकार शिक्षक अपने सामाजिक कर्त्तव्य को पालन कर सकता है। सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि शिक्षक समाज का अध्ययन और उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करे और उनसे अपने नतीजे निकाले। आज-कल के समाज में, जहाँ कि शोषक और शोषित वर्गों का द्वन्द इतना साफ नजर आ रहा है, अध्यापक उससे किसी प्रकार बच नहीं सकता है और यह भी सम्भव है कि इस द्वन्द में वह अपना कोई न कोई निश्चित स्थान पाने का प्रयत्न करे।

शिक्षक को जो भी करना है वह जानबूझ कर और समाज की प्रवृत्तियों के अध्ययन के बाद ही करे। अध्ययन के बाद यदि वह प्रतिक्रिया-

वादी शक्तियो के साथ जाना चाहता है तो खुशी से जाय लेकिन इससे क्या नतीजा होनेवाला है यह भी उसे साफ साफ समझ लेना चाहिये। इसका मतलब यह है कि समाज में जो उपद्रव आज मच रहा है वह अधिक तीव्र होगा। इसी तरह जो अध्यापक प्रगतिशील है उसको अपने काम का फल साफ देख कर समझबूझ कर अपना कदम आगे बढाना चाहिये।

शिक्षक अपने समाज में अपना कर्तव्य पूरी तरह अदा कर सके इसके लिये यह जरूरी होता है कि वह अपने आप को सगठित करे। आज के समाज में बिना संगठन के कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की रक्षा तथा अपने हक को प्राप्त नही कर सकता। हमारे देश में आज शिक्षको का सगठन सबसे कमज़ोर है, इसी कारण शिक्षको की दशा भी खराब है। शिक्षको को चाहिये कि अपने अधिकारो को प्राप्त करने के लिये, अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिये, अपने काम की उन्नति के लिये और अपने विश्वास के लिये शिक्षक-सघ को दृढ बनावें। अपने अधिकारो को लडकर प्राप्त करना होगा और उनको प्राप्त करने के लिये बिना मजबूत सगठन के काम नही चल सकता। अधिकार हमेशा लिये जाते हैं उन्हे कोई देता नही। इसलिये शिक्षको की आर्थिक तथा बौद्धिक स्थिति को सुधारने के लिये एक ज़रिया यह है कि प्रत्येक शिक्षक शिक्षक-संघ में सक्रिय भाग ले।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि शिक्षक की माँगो और उसके अधिकारो की ठीक प्रकार से सुरक्षा हो सके, उसके लिये यह जरूरी है कि शिक्षक-संघ राज्य से बिलकुल स्वतन्त्र हो। राज्य का तथा राज्य के अधिकारियो का उस पर किसी प्रकार दबाव तथा आधिपत्य नहीं होना चाहिये।

राज्य इसलिये बनाया जाता है कि प्रत्येक नागरिक के अधिकारो की वह रक्षा करे। लेकिन कई बार राज्य गलती करता है और वर्ग

विशेष की सहायता व समर्थन करने लगता है। उस वक्त प्रत्येक नागरिक का तथा भिन्न भिन्न संगठनो का यह कर्त्तव्य है कि वे राज्य को चेतावनी दें और उसको सही रास्ते पर लगावें। इसलिये शिक्षक-संघ के लिये नितान्त आवश्यक है कि वह राज्य तथा राज्य अधिकारियो में कोई सम्बन्ध न रक्खे।

शिक्षक संघ को दृढ करने के साथ शिक्षको का यह कर्तव्य है कि वे अपना सम्बन्ध मजदूरों और किसानो के साथ जोड़ें। आजकल शिक्षको ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया है जिसका समाज से कोई सम्बन्ध नही है। उसको असामान्य अधिकारवाले तथा निहित-स्वार्थवाले अपने गिरोह में शामिल नही करते और मजदूर किसानो से उसने स्वय अपने को अलग कर रक्खा है। शिक्षक को यह साफ साफ़ समझ लेना चाहिए कि उसका स्थान असामान्य अधिकारोवाले वर्ग मे नही है। शिक्षक का उचित स्थान मजदूरो और किसानो में है। शिक्षक भी श्रमजीवी है। उसमें और मजदूर में कोई अन्तर नहीं है। वह प्रधानतया बौद्धिक काम करता है और दूसरा शारीरिक। शिक्षको को अपना सम्बन्ध मजदूरो और किसानो के साथ जोडकर समाज में बौद्धिक और शारीरिक श्रम में जो अप्राकृतिक विभाजन हो गया है उसे मिटाना चाहिये। उसको दूर करने का तरीका यह है कि शिक्षक मजदूरों के साथ अपनी हमदर्दी रक्खे, उनके सुख दुःख में और उनकी आशाओं और निराशाओं में सक्रिय भाग ले। इसमे शिक्षक को स्वयं बडा लाभ होगा। उसको उनकी सच्ची दशा का कुछ ज्ञान होगा।

शिक्षक को यह भी जानना चाहिये कि उसको जितनी शक्ति और जितना समर्थन मजदूर और किसानो से मिल सकता है उतना विशेष अधिकारवाले वर्ग से नही। शिक्षको की आर्थिक उन्नति और जीविका का प्रश्न शिक्षा के प्रसार पर निर्भर है और शिक्षा का प्रसार मजदूरो

और किसानो की माँग पर निर्भर है। इसलिये मजदूरों और किसानो का साथ देने में शिक्षक का ही हित है।३९

इस संघर्ष काल में दूसरी बड़ी आवश्यकता यह है कि शिक्षा में स्वतन्त्रता रहे। शिक्षा में स्वतन्त्रता का मतलब यह है कि शिक्षक को अपने विचारों को प्रकट करने में पूरी स्वतन्त्रता हो तथा अपने कार्य की योजना बनाने में—जैसे पाठ्यक्रम, शिक्षा प्रबन्ध, और स्कूल व्यवस्था—में उसका पूरा हाथ हो। विचार स्वातन्त्र्य जनतन्त्र की जड है और उसको दबाना जनतन्त्र के खिलाफ अपराध है। स्वतन्त्रता के वातावरण में ही विद्यार्थियो को जनतंत्र के लिये नागरिकता की शिक्षा देना सभव हो सकता है। जब तक शिक्षक स्वतंत्र नही है, विद्यार्थियों के लिये स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही।

आज हम देख रहे है कि लोगो का विश्वास धीरे धीरे शक्ति और हिंसा में बढता जा रहा है और अनुरोध तथा बुद्धि में कम होता जा रहा है। यह हमारी संस्कृति के लिये कल्याणकारी बात नही है। सस्कृति और सभ्यता का विकास अनुरोध तथा बुद्धि पर निर्भर है, न कि शक्ति और हिंसा पर। समाज की इस परिस्थिति के कारण को गहराई से सोचा जाय तो पता लगे कि इसके पीछे दबाव और नियन्त्रण है। जितना ही व्यक्ति की स्वतंत्रता को दबाया जाता है, उतना ही शक्ति और हिंसा के रूप मे उसका विस्फोट होता है। इसलिये यदि हम बुद्धि और अनुरोध को प्रोत्साहन देना चाहते है, जो कि जनतन्त्र का सच्चा मार्ग है, तो हमको शिक्षालयो में स्वतन्त्रता का वातावरण बनाना पडेगा।

---

३९. John Dewey : Problems of Men Pages 74–76.

स्वतन्त्र भारत में पब्लिक स्कूलों का स्थान

आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर हमको अपनी शिक्षा की नीति तथा उसकी रूपरेखा पर भी पूर्णतया विचार कर लेने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण समस्या है पब्लिक स्कूलो की, जिस पर अब तक हमने गम्भीरता से विचार नही किया है।

पब्लिक स्कूलो का जन्म इंगलैण्ड में ५०० वर्ष पहले हुआ था। तब से उनकी कुछ रूढियाँ तथा विशेष शिक्षण पद्धतियाँ प्रचलित है। पब्लिक स्कूलो का इंगलैण्ड के राष्ट्रीय जीवन पर विशेष प्रभाव रहा है। यह गणना की गई है कि सन् १८५१ से १९२९ तक फोरेन ऑफिस और डिप्लोमेटिक सर्विस के ९० प्रतिशत कार्यकर्ता ११ पब्लिक स्कूलो में से लिए गये थे। ९० प्रतिशत पादरी और गिरिजाघर के अधिकारी, ७२ प्रतिशत उच्च राज्य पदाधिकारी, ७२ प्रतिशत बैंक और रेल्वे के डायरेक्टर, ७१ प्रतिशत इंडियन सिविल सर्वेन्ट और डोमीनियन्स के गवर्नर पब्लिक स्कूलो से शिक्षा प्राप्त कर के निकले थे। सन् १९२७ में एक दूसरी गणना की गई जिससे ज्ञात हुआ कि ५६ में से ५२ पादरी, २४ में से १९ गिरजाघर के अधिकारी, २५ लार्ड्स ऑफ अपील में से १७, ८२ बैंक के डायरेक्टरो में से ६२ और सिविल सर्विस के उच्च पदाधिकारियो में से अधिकतर पब्लिक स्कूलो के छात्र रह चुके थे और डिप्लोमेटिक सर्विस में २४९ लोगो में से केवल ९ ही लोग ऐसे थे जिन्होने पब्लिक स्कूलो में शिक्षा नही पाई थी। इन अंकों से यह स्पष्ट है कि इंगलैण्ड का राष्ट्रीय जीवन और उसके साम्राज्य की बागडोर पब्लिक स्कूलो से निकले हुए कुछ लोगो के हाथ में रही है। यदि हम यह कहें कि इंगलैण्ड के साम्राज्य का संचालन पब्लिक स्कूलों द्वारा हुआ है तो अतिशयोक्ति नही होगी।

इगलैण्ड के पब्लिक स्कूलो में केवल धनी वर्ग के बच्चे ही प्रवेश पा सकते हैं। ईटन और हेरो की फीस प्रति सप्ताह ७ पाउण्ड हैं। इसी प्रकार मेन्चेस्टर तथा चार्टर हाउस के स्कूलो की फीस ६ और ५ पाउण्ड है। यह अनुमान लगाया जाता है कि इंगलैण्ड के पब्लिक स्कूलो में जाने वाले बच्चो के घर की आय कम से कम १००० पाउण्ड की होनी चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि इगलैण्ड के पब्लिक स्कूल केवल धनी वर्ग के लिए है। ये सत्ता और विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने के साधन मात्र हैं। ४०

गत युद्ध के पश्चात् पब्लिक स्कूलो का प्रश्न बडा विवादास्पद रहा है लेकिन इसमें कोई सदेह नही कि पब्लिक स्कूलो का इगलैन्ड मे विभिन्न वर्गो को स्थिर रखने में पूरा हाथ रहा है। फ्लेमिंग कमेटी ने, जिसने इस विषय की पूरी खोज की, अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि यह तो सिद्ध नही किया जा सकता कि पब्लिक स्कूलो ने १९वी शताब्दी मे भेद-भाव उत्पन्न किया परन्तु इसमे कोई सदेह नही कि पब्लिक स्कूल उस समाज की आवश्यकता को पूरी करने के लिए खोले गये थे जो पहले से ही काफी भागो में विभाजित था और उस विभाजन को सुरक्षित रखने के लिए पब्लिक स्कूल पद्धति के अतिरिक्त अन्य कोई पद्धति नहीं हो सकती थी। इस प्रकार की शिक्षा पद्धति के निर्माण के पश्चात् समाज का एकीकरण करना और वर्ग भेद मिटना असम्भव-सा था। ४१

हमारे देश में जो शिष्ट वर्ग है उनका सतत यही प्रयत्न रहा है कि उसके बालक सामान्य स्कूल मे न पढकर विशेष प्रकार के स्कूलो में पढ़ें. तभी धन, सत्ता और विशेष अधिकार उनके हाथ में बने रह सकते हैं।

---

४०. Atfred B Badger. The Public Schools and the Nation, Pages 21–22

४१. The Public Schools. Report of the Committee on Public Schools appointed by the President of the Board of Education in July 1942–Page 23.

इसी दृष्टि से श्री एस. आर. दास ने सन् १९३५ में पहले पब्लिक स्कूल को देहरादून में जन्म दिया। श्री एस. आर दास चाहते थे कि इगलैण्ड के पब्लिक स्कूलो की शिक्षा,पद्धति के आधार पर भारतीय पब्लिक स्कूलो का निर्माण किया जाय ताकि भारतीय बालको को उस प्रकार की शिक्षा पाने के लिए इगलैण्ड जाने की आवश्यकता न पडे और भारतीय रूढि और संस्कृति में उसी प्रकार की शिक्षा उनको यहाँ मिल सके।

इन स्कूलो के प्रारम्भ होने के पहले भी राजाओ–महाराजाओं, जागीरदारो तथा अन्य विशेष अधिकार प्राप्त वर्गों के बालको के लिए हमारे देश में पृथक् स्कूल रहे है। अजमेर का मेओ कालेज, राजकोट का राजकुमार कालेज, रायपुर का राजकुमार कालेज, इन्दौर का डेली कालेज तथा ग्वालियर का सिन्धिया स्कूल इसी प्रकार के स्कूल थे। साधारण बालको को इन स्कूलो में प्रवेश नहीं मिलता था। इन स्कूलों के आचार्य प्राय: इंगलैण्ड से बुलाये जाते थे और यहाँ की शिक्षा-पद्धति तथा यहा का वातावरण रईसी ढंग का होता था। बालको के विकास की तरफ उतना ध्यान नहीं दिया जाता था जितना रईसी ठाट-बाट पर।

दून स्कूल खुलने के बाद इन सब स्कूलों ने अपनी नीति बदली और ये सब स्कूल अपने आपको पब्लिक स्कूल कहने लगे। इन स्कूलो के आचार्य इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेन्स के सदस्य बन गये। इस नीति का बहुत बड़ा असर इन स्कूलो पर यह पड़ा कि इन स्कूलो के द्वार उन सब लोगो के लिए खुल गये जो इन की ऊँची फीस देने में समर्थ थे। अब इनका क्षेत्र केवल राजकुमारो तथा जागीरदारो तक ही सीमित नहीं रहा लेकिन शिष्टजन तक विस्तृत हो गया। पुराने रईसी ठाट-बाट में भी कमी हो गई और बालको के शिक्षा व विकास की तरफ़ अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

इसमें कोई संदेह नही कि हमारे देश में ये स्कूल आज उच्च कोटि के स्कूल है। यहाँ के शिक्षको को ऊँचा वेतन मिलता है, भव्य और सुन्दर भवन है, अध्यापन के अच्छे साधन है और स्कूलो का सारा वातावरण बड़ा स्वच्छ है। ये स्कूल अधिकांश में छात्र-शाला के रूप में है जहाँ चौबीसो घन्टे बालक शिक्षक के निरीक्षण तथा सम्पर्क मे रहते है। नेतृत्व के विकास तथा चरित्र निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बालको का शारीरिक विकास तथा खेल शिक्षा के आवश्यक अंग है। यहाँ के निकले हुए बालक प्राय फौज, बेडे, सिविल सर्विस इत्यादि मे उच्च पदो पर पहुँचते है। यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे पब्लिक स्कूल अधिकांश में इगलैण्ड के पब्लिक स्कूलो का अनुसरण करते है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि जिस जनतन्त्र की कल्पना हमारे देश मे हम करते है क्या उसमें विशेष वर्ग के स्कूल रहने चाहिए? यदि रहें तो इनका क्या स्वरूप होना चाहिए और किस प्रकार के बालको को इनमें प्रवेश मिलना चाहिए। जनतन्त्र की दृष्टि मे यह स्वास्थ्यप्रद नही है कि समाज मे दो प्रकार की शिक्षण पद्धतियाँ हो और यह भेद भी धन के आधार पर हो।

आज कल हमारे पब्लिक स्कूलो मे उच्च से उच्च वर्ग के बच्चे ही प्रवेश पा सकते है क्योकि साधारण श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के लोगो के लिए वहाँ का खर्च उठाना सम्भव नही होता। देश में दो प्रकार की शिक्षा पद्धति का होना उचित नही जान पड़ता। उसमे भी एक तो ऐसी कि जिस के द्वारा वे ही शिक्षा प्राप्त कर सकते है जिनके पास धन है और जो आगे जाकर भी समाज का राज्य संचालन करेंगे तथा नेतृत्व करेंगे और अपने वर्ग के विशेष अधिकारो को अक्षुण्ण रखेंगे और दूसरी उन साधारण बच्चो के लिए जो केवल आज्ञा पालन करेंगे और शिष्टजन के अनुशासन में रहेंगे। इस तरह धन के आधार पर की गई शिक्षा की योजना ऐसे जनतन्त्र के लिए हानिकारक ही नही वरन घातक सिद्ध होगी जिसमें

प्रत्येक बालक को समान अवसर दिया जाना है । इस प्रकार जीवन के आरम्भ से ही हमारा समाज बालकों में उस भेदभाव को पक्का कर देता है जो धन के आधार पर बना है। ऐसे समाज में जन साधारण की शक्तियों का विकास संभव नहीं होगा तथा उसमें नैराश्य और द्वन्द्व फैलेगा।

इस पद्धति का प्रभाव साधारण शिक्षा पर भी अनुचित होगा। समाज का उच्च वर्ग जब अपने बच्चो के लिए अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध कर लेता है तो फिर उसके लिये सर्व साधारण के शिक्षा-सुधार का कोई महत्व नहीं रह जाता। हमारे समाज में शिष्ट जन को यदि आज वे सब विशेष सुविधाएँ उपलब्ध न होती और उसके बालक भी साधारण स्कूलो में पढ़ते तो निःसंदेह शिक्षा में सुधार की मांग अधिक प्रबल होती।

शिक्षा मे इस प्रकार का भेद भाव समाज की एकता को सुरक्षित रखने के स्थान पर एक वर्ग और दूसरे वर्ग में द्वन्द्व उत्पन्न करता है। जिस समाज में विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के बालक जन्म से ही पृथक कर दिये जाते है, वे दूसरे वर्ग के अनुभवो से वंचित रहते हैं। समाज के उच्च पद उन्ही के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं। दूसरे वर्ग के लिए उनके द्वार बन्द रहते हैं। ऐसे समाज में संघर्ष और कलह अनिवार्य है। जनतन्त्र को यदि हम वास्तविक रूप देना चाहते हैं तो उसके उद्देश्यों को शिक्षामें भी स्थान देना पडेगा। यह जनतन्त्र के उद्देश्यो के विरुद्ध है कि अच्छी शिक्षा उन्हीं लोगो को मिले जो धनवान हों। ४२

पब्लिक स्कूलो के लिए यह कहा जाता है कि वहाँ के छात्रो में कर्तव्य परायणाता तथा सामूहिक भावना का विकास होता है; लेकिन जब पब्लिक स्कूल का छात्र स्कूल से निकल कर समाज में

---

४२. Harold J. Laski: The Public Schools and Democracy in *The Journal of Education* Vol 73. No 859. Feb. 1941 Pages 45–46.

जाता है तो ये गुण ही उसके लिए दोष बन जाते है। ये गुण सकुचित क्षेत्र मे प्रकट होते है और पब्लिक स्कूल से निकाला हुआ छात्र अपनी ही जाति के लोगो की ओर अपनी कर्तव्यपरायणता प्रकट करता है और उन्ही की सेवा करता है। दूसरे वर्ग की कठिनाइयो आकाक्षाओ और कष्टो को वह नही समझता।

पब्लिक स्कूल के समर्थक यह मानने लगे है कि एक विशेष वर्ग के बालको को स्कूल मे अलग रखने से उनमें सकुचितता, अलगाव और वर्ग भेद पनपता है। फ्लेमिंग रिपोर्ट मे भी यह स्वीकार किया गया है कि जिस स्कूल मे केवल वे ही बच्चे आते हो जो ऊँची फीस दे सकते हों तो उनके लिए एक बहुत बडा भय यह है कि वे निर्धन वर्ग के बालको के दृष्टिकोण को न समझ सके। उनको केवल अपने ही वर्ग के जीवन-व्यवहार और दृष्टिकोण का बोध रहता है और उसके बाहर उनकी दृष्टि नही जाती। ४३

इस भय को निर्मूल करने के लिए पब्लिक स्कूल अब यह योजना बना रहे है कि कुछ प्रतिशत बालक राज्य की छात्रवृत्ति लेकर इन स्कूलो मे प्रवेश पा सके ताकि निर्धन और धनी बालको में सम्पर्क पैदा हो सके और वर्ग भेद मिट सके। कुछ लोगो का मत है कि २५ से ५० प्रतिशत स्थान छात्रवृत्ति प्राप्त निर्धन बालको के लिए सुरक्षित रखे जाने चाहिए ताकि निर्धन बालक भी पब्लिक स्कूलो की शिक्षा से लाभ उठा सकें।

इस योजना पर पूर्ण रूपेण विचार करने की आवश्यकता है। विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग सदैव इस बात का प्रयत्न करते है कि उनके विशेषाधिकार कायम रहें। राज्य-छात्रवृति प्राप्त छात्रों के लिए स्थान

---

४३ The Public Schools: Report of the Committee on Public Schools appointed by the President of the Board of Education in July 1942—Page 55.

सुरक्षित रख कर शिष्ट वर्ग पब्लिक स्कूल को कायम रखने के लिए एक अन्तिम प्रयास कर रहा है। यह एक प्रकार का समझौता ह जो वह दूसरे वर्ग के साथ कर रहा है और वह भी अपने हित की दृष्टि से न कि शिक्षा में सुधार की दृष्टि से। शिक्षा मे सुधार तब ही हो सकता है जब शिष्ट वर्ग के बालक भी निर्धन बालको की भाँति गदे व दूषित वातावरण में और निर्धन,अर्ध-शिक्षित, अध्यापको के सम्पर्क में रहें तथा टूटे फूटे साधनो द्वारा शिक्षा ग्रहण करे। तभी शिष्ट वर्ग समझ सकेगा कि हमारी साधारण शिक्षा दूषित है और उसमें सुधार की आवश्यकता है। आज हमने निम्न वर्ग के लिए जो निन्दनीय शिक्षा पद्धति स्वीकार कर रक्खी है उसका कारण यही है कि शिष्ट वर्ग को इस परिस्थिति की अनुभूति ही नही होती। निर्धन बालक को पब्लिक स्कूल में रखने से एक और हानि हो सकती है। हमको यह याद रखना चाहिए कि शिष्ट वर्ग की भाषा, संस्कृति, रुढि आदि निर्धन लोगो से भिन्न है। पब्लिक स्कूल में शिष्ट वर्ग से आया हुआ बालक एक निर्धन किसान और मजदूर बालक के साथ सहज ही सम्पर्क स्थापित नही कर सकता। निर्धन बालक को इसका बडा दुष्परिणाम भोगना पड सकता है। उधर वह अपने वर्ग से अलग हो जायगा और इधर शिष्ट वर्ग उसको आसानी से नहीं अपनायगा। इस तरह बालक में हमेशा के लिए लघुता की भावना घर कर सकती है। वह अपनी दुनिया तो छोड देगा पर दूसरी दुनियां में भी प्रवेश नही पा सकेगा।

इसलिए यह योजना कि, कुछ छात्रवृति प्राप्त बालक पब्लिक स्कूलो में लिए जायें, पब्लिक स्कूलो के लिए हित कर हो सकती है लेकिन साधारण शिक्षा की दृष्टि से अहितकर है। साधारण शिक्षा का हित इसी में है कि हम साधारण स्कूलो की स्थिति सुधार सकें। उनके लिए अच्छे अध्यापक तथा साधन और सुविधाएँ जुटा सकें।

पब्लिक स्कूलो को यदि रखना ही है तो वे इस रूप में नही रह सकते। जनतान्त्रिक शिक्षा पद्धति के अनुकूल होने तथा राज्य की

आर्थिक सहायता के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक होगा कि इन स्कूलो में शत प्रतिशत वे ही छात्र जायँ जो इस प्रकार की शिक्षा के लिए योग्य समझे जायँ, चाहे वे उच्च घराने के हो चाहे निर्धन घराने के। न तो धन के आधार पर कोई छात्र इन स्कूलो में प्रवेश पा सके और न उसके अभाव मे वह रोका जाय।

इन स्कूलो के सम्बन्ध में एक प्रश्न और है जिस पर भी हमको विचार करना चाहिए। ये स्कूल अब तक राज्य से बिलकुल स्वतन्त्र रहे है। इनके निज के बडे बडे एण्डाउमेण्ट फण्ड रहे है जिनसे इनका काम चलता रहा है। राज्य ने इनका पक्ष लेकर इनको आर्थिक सहायता दी भी है तो राज्य के शिक्षा विभाग का किसी प्रकार का नियन्त्रण इन पर नही रहा है। ये स्कूल पूर्णतया स्वतन्त्र रहे है। अब भी ये चाहते है कि राज्य से इनको सहायता मिले पर किसी प्रकार का नियन्त्रण इन पर न रहे क्योकि ये शिक्षा में नये नये प्रयोग कर रहे है और जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये इस प्रकार के विभिन्न प्रयोगो की आवश्यकता है। यह बडा विवादास्पद विषय है कि ये स्कूल शिक्षा में क्या प्रयोग कर रहे है। बालक पर बाह्य नियम लाद कर उसको कठोर तो बना दिया जाता है जिसमे उसके व्यक्तित्व का विकास कम हो पाता है। पब्लिक स्कूलो को किसी प्रकार भी प्रगतिशील शिक्षा के प्रयोग हम नही मान सकते। वहाँ का वातावरण, वहाँ का जीवन, वहाँ का रहन सहन, सारा बाहरी अनुशासन पर निर्भर है। स्वतन्त्र विचार को वहां कम स्थान दिया जाता है, इसका परिणाम यह होता है कि पब्लिक स्कूल से निकले हुए बालको में वे मानवोचित गुण नही होते जो साधारण स्वतन्त्र शिक्षा प्राप्त बालको मे पाये जाते हैं। जिन गुणो पर पब्लिक स्कूल जोर देते है उनको हम सभ्यता के नाप दड से बर्बरता समझेंगे। पब्लिक स्कूल के बालक में प्रशंसनीय चरित्र हो सकता है, वह न्याय प्रिय तथा अच्छा अफसर बन सकता है, लेकिन जीवन के उच्च मूल्यो से उसका प्रेम नही होता और उनके प्रति

,255

वह उदासीन रहता है। साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, काव्य इत्यादि में कोई बालक विशेष रुचि दिखाता है तो वह घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। पब्लिक स्कूल से जो लड़के निकल कर समाज में जाते हैं उनको अपनी ही संस्कृति के प्रति घृणा होती है। ४४

सिद्धान्त की दृष्टि से यह सही है कि हमारे देश में जनतन्त्र को यदि सफल होना है तो उसमें विभिन्न प्रकार के प्रयोग होने चाहिए; जो स्कूल प्रयोग कर रहे हैं उनको राज्य की तरफ से अधिकाधिक सहायता मिलनी चाहिए तथा उन पर कम से कम नियन्त्रण होना चाहिए। यदि पब्लिक स्कूल भी शिक्षा में अच्छे प्रयोग कर रहे हैं तो इनको भी अपने प्रयोग करने का पूरा अवसर देना चाहिए। परन्तु यदि वहाँ व्यक्तित्व के विकास के स्थान पर बालक मे विशेष दृष्टिकोण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है तो इनको किसी भी रूप में प्रयोगात्मक स्कूल नही समझना चाहिए। उनको स्वतन्त्रता इसलिए नही होनी चाहिए कि वे अपने विशेष अधिकारो को सुरक्षित रख सकें परन्तु इसलिए कि वे शिक्षा में ऐसे प्रयोग कर सकें जिनसे जन-साधारण की शिक्षा को लाभ पहुँचे।

जनतन्त्र के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि जो तीव्र बुद्धि के बालक है उनके लिए हम विशेष शिक्षा का आयोजन करें। प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण ऐसे बालको का कार्य उच्च स्तर का होता है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी प्रतिभा को विकसित करने का पूरा अवसर उन्हें दिया जाय। जनतन्त्र साधारण बालक की शिक्षा का तो ध्यान रक्खे ही लेकिन उसके साथ साथ प्रतिभाशाली बालकों की उचित शिक्षा का भी ध्यान उसे रखना है। जनतन्त्र की दो प्रकार की समस्याएँ है एक ओर सामान्य जन का स्तर उच्च करना

---

४४ C. E. M. Joad : Shame of culture in *The Journal of Education* Vol 73, No 859 Feb. 1941-Pages 43-45.

और दूसरी ओर योग्यता और प्रतिभा को विकसित होने का पूर्ण अवसर प्रदान करना। जनतन्त्र यदि एक के मूल्य पर दूसरे लक्ष्य को प्राप्त करता है तो यह अवाछनीय है। जनतन्त्र को दोनों लक्ष्यो को एक साथ प्राप्त करना होगा लेकिन प्रतिभा की कसौटी धन या विशेष अधिकार नही है। प्रतिभा चाहे किसान बालक में हो, चाहे मजदूर बालक में और चाहे धनी बालक में, उसको खोजना और समाज के लिए उपयुक्त बनाना जनतांत्रिक शिक्षा का परम कर्तव्य है।

लोकतंत्र में गैर सरकारी स्कूल

हमारे देश में शिक्षा की अनेक समस्याओं में से एक समस्या गैर-सरकारी स्कूलों की है जिस पर हमको गहराई से विचार करना चाहिये। लोकतंत्र में राज्य को बुनियादी तथा माध्यमिक शिक्षा की जिम्मेदारी उठानी पड़ती है। राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि राष्ट्र के सब बच्चों को स्कूलों मे लावे और उनको उचित प्रकार की शिक्षा दे जिससे वे लोकतंत्र के सच्चे नागरिक बन सकें। लोकतत्र में बिना शिक्षा के काम नही चल सकता क्योंकि शिक्षा द्वारा ही नागरिक में विवेक उत्पन्न हो सकता है और वह सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नो पर अपने विचार प्रकट करने के योग्य होता है। तानाशाही बिना शिक्षा के सफल हो सकती है परन्तु लोकतत्र तो शिक्षा के आधार पर ही कायम रह सकता है।

जब राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि शिक्षा के लिए वह सरकारी स्कूलो की स्थापना करे तो यह प्रश्न उठता है कि गैर सरकारी स्कूलो की फिर समाज मे क्या आवश्यकता रह जाती है तथा उनका क्या स्थान है। इस प्रश्न पर विचार करने के पहिले यह आवश्यक है कि हम हमारे देश में जो भिन्न भिन्न प्रकार के गैर सरकारी स्कूल है उनकी उत्पत्ति के बारे मे विचार करें। हमारे देश में गैर सरकारी स्कूल कई प्रकार के है परन्तु मुख्यत. वे निम्न श्रेणियो में बाँटे जा सकते है —

१. धार्मिक सगठनो से सम्बन्धित, २. साम्प्रदायिक, ३ निजि, ४ वर्ग विशेष के, तथा ५ सार्वजनिक।

१. धार्मिक संगठनों से सम्बन्धित स्कूलः— हमारे देश में कई प्रकार के स्कूल ऐसे है जिनका सम्बंध धार्मिक संगठनों से है। इन

स्कूलो की स्थापना करने में तथा इनका आर्थिक भार उठाने में धार्मिक संगठन का हाथ होता है और वह यह अपेक्षा रखता है कि इन स्कूलों द्वारा उस धर्म विशेष का प्रचार हो तथा विद्यार्थियो में वैसा धार्मिक दृष्टिकोण बने। इन स्कूलो में व्यवहारिक शिक्षा के अलावा धार्मिक सिद्धान्तो की शिक्षा भी दी जाती है। भिन्न भिन्न धर्मो के अनुयायी इस प्रकार के स्कूल चलाते है। हिन्दुओ मे इस प्रकार के कई मजबूत सगठन है जो स्कूल चला रहे है जैसे सनातन धर्म, आर्य-समाज, धर्म समाज, देव समाज, इत्यादि इसी प्रकार मुसलमानो के मकतब और ईसाइयो के मिशन स्कूल भी चलते है। इन संगठनो का विशेष प्रयोजन यही होता है कि इन स्कूलो द्वारा इनके मतो का प्रचार तथा समर्थन बढे। इसी श्रेणी में कई गुरुकुल भी आ जायेंगे जो कि प्राचीन वैदिक काल के आदर्शो को लेकर चलाये गये है और जिनके द्वारा यह प्रयत्न किया जा रहा है कि प्राचीन भारतीय आदर्शो का पुन आधुनिक जीवन में समावेश हो सके।

२. **साम्प्रदायिक स्कूल**— दूसरे स्कूल वे है जो किसी सम्प्रदाय विशेष द्वारा उसके बच्चो की शिक्षा के लिए चलाये गये है। ऐसे कई स्कूलों में अन्य सम्प्रदायो के बच्चे भी प्राय प्रवेश पा जाते है पर इन स्कूलो का वातावरण होता है साम्प्रदायिक। हमारे देश मे इस तरह के कई स्कूल भी है जो किसी जाति विशेष के लिए चलाये गये है। जैसे ब्राह्मणो के लिए, राजपूतो के लिए, कायस्थो के लिए, जैनियो तथा ओसवालो इत्यादि के लिए अपने अपने अलग अलग स्कूल है जिन में प्राय उसी बिरादरी के लोग भर्ती होते है और इन स्कूलो का आर्थिक भार भी वही बिरादरी उठाती है। इनके अलावा कुछ स्कूल ऐसे भी है जो किसी समाज द्वारा चलाये जाते है। व्यापार और व्यवसाय के लिये लोग एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे जाते है पर वहाँ की भाषा और संस्कृति भिन्न होने से वे अपने स्कूल भी वहां अलग स्थापित करते है जैसे मारवाड़ी तथा बंगाली स्कूल।

३. **निजी स्कूलः—** तीसरी प्रकार के स्कूल वे है जिन्हें कोई व्यक्ति अपने नाम के लिए तथा अपनी विशेष अभिरुचि के कारण या अपने मुनाफे के लिए स्थापित करता है। हमारे देश में ऐसे कई स्कूल है जो किसी व्यक्ति विशेष ने चलाये है। उसने अपने यश व कीर्ति के लिए कोई निधि स्थापित कर दी है जिसके खर्चे से स्कूल चलते हैं। ऐसी निधि स्थापित करने में दानी का कोई विशेष प्रयोजन नही होता, सिवा इसके कि बच्चो की तालीम हो और उसकी नामवरी हो। इनके अलावा कई स्कूल ऐसे भी है जिन्हे व्यक्ति विशेष अपनी अभिरुचि से चलाता है। उसके पास धन-सम्पत्ति होती है और शिक्षा उसके लिए एक प्रकार का रुचिकर धन्धा हो जाता है। कुछ लोग स्कूल इसलिए भी चलाते है कि उनके द्वारा उनको मुनाफा मिलता है। शिक्षा उनके लिए एक प्रकार का व्यापार हो जाता है। ऐसे कई स्कूल हमारे देश में मिल सकते है जिनके द्वारा लोग अपनी जीविका चलाते है तथा व्यापारिक दृष्टि से उनका प्रबन्ध करते है।

४. **वर्ग विशेष के स्कूलः—** कुछ स्कूल ऐसे है कि जहां केवल वर्ग विशेष के बच्चे ही शिक्षा ग्रहण करने जा सकते है। इन स्कूलों में अच्छी तालीम दी जाती है और अच्छे पढे लिखे विद्वान अध्यापक रखे जाते है। परन्तु इनका खर्च इतना अधिक होता है कि साधारण बच्चों के लिये इन स्कूलो के द्वार बंद रहते है। हमारे देश में इस तरह के कई स्कूल मिल जायेंगे जहां शिष्ट वर्ग के लोगो को शिक्षा दी जाती है। इन स्कूलों के पास अपना निज का कुछ एण्डाउमेण्ट फन्ड होता है तथा ऊँची फीस द्वारा उनको काफी आमदनी हो जाती है।

५. **सार्वजनिकः—** कुछ स्कूल ऐसे भी हैं जिनका प्रबन्ध किसी विशेष संप्रदाय, धर्म या वर्ग के हाथ में नहीं है परन्तु उनका सम्बंध सामान्यजन से है और सामान्यजन के चन्दे से ही ऐसे स्कूल चलते है। इनकी सेवाएँ किसी वर्ग या जाति विशेष के लिए नही होतीं;

वह साधारणजन के लिए होती है। इन स्कूलो की स्थापना या तो किसी सामाजिक आदर्श को लेकर होती है या शिक्षा में कोई विशेष प्रकार का प्रयोग करने के लिए।

इस तरह हम देखते है कि हमारे समाज में गैर सरकारी स्कूल कई उद्देश्यो से चलाए हुए है तथा वे कई प्रकार के प्रयोग कर रहे है। यहाँ हम केवल सार्वजनिक स्कूलो की समस्या पर विचार करना चाहते है क्योंकि ये ही स्कूल ऐसे है जो राज्य की सहायता के पूर्ण रूप से अधिकारी हैं। वे स्कूल जो किसी धर्म, सम्प्रदाय या वर्ग विशेष तथा व्यक्ति की अभिरुचि के लिये तथा उनके मतो का प्रचार करने के लिए चलाये जाते हैं उनसे राज्य का कोई विशेष सम्बंध नही हो सकता; क्योकि राज्य यदि इनकी सहायता करे तो वह पक्षपात का दोषी होगा। लोकतंत्र में सभी धर्मों तथा सम्प्रदायो को अपने मत और दृष्टिकोण का प्रचार करने का पूर्ण अधिकार है परतु राज्य तो उन्ही स्कूलो की सहायता कर सकता है जो वास्तव में सार्वजनिक हो तथा जिनके द्वार सभी धर्म, सम्प्रदाय और वर्गों के बालकोके लिए खुले हुए हो। यहाँ हमको इस प्रश्न पर विचार करना है कि यदि राज्य राष्ट्रीय शिक्षा का जिम्मा लेता है तो फिर सार्वजनिक स्कूलो की क्या आवश्यकता है। यदि ये स्कूल शिक्षा में कोई विशेष प्रयोग या विशेष प्रकार का काम नही कर रहे हैं तो इनके अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं। अलग रहकर ये किसी वर्ग विशेष की सेवा तो नही कर रहे है? इन प्रश्नो का भली प्रकार से उत्तर मिलने पर ही हम यह निश्चय कर सकते है कि ये स्कूल जनतांत्रिक है या नही और इनके पोषण के लिए राज्य की सहायता मिलनी चाहिये या नही।

हमारे देश में राष्ट्रीय शिक्षा हो जाने पर भी सार्वजनिक स्कूलो की हमेशा आवश्यकता रहेगी। लोकतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि उनकी शिक्षा में एक रूपता नही वरन् भिन्नता हो और लोगो को प्रयोग का

काफी अवसर मिले। शिक्षा में जितने भी सुधार हुए हैं वे सार्वजनिक स्कूलों के प्रयोगों से ही हुए हैं। राज्य की शिक्षा पद्धति में प्रयोग की ज्यादा गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि वहाँ निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार काम होता हैऔर एक रूपता पर ध्यान दिया जाता है। शिक्षा में अन्तिम सत्य तक हम कभी नहीं पहुँच सकते। उसमें प्रयोग की सदैव गुंजाइश रहती है और यदि प्रयोग को हम राष्ट्रीय पद्धतियों में कोई स्थान नहीं देते हैं तो हमशिक्षा के और समाज के विकास को रोकते हैं। इसलिएइसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इन प्रयोगात्मक सार्वजनिक स्कूलों की लोकतंत्र को बड़ी आवश्यकता है।

हमको देखना यह है कि प्रयोग के नाम पर कहीं ये स्कूल किसी विशेषअधिकारी वर्ग की सेवा तो नहीं कर रहे हैं। इन स्कूलों में विद्यार्थी प्रायः कम रहते हैं और खर्चा अधिक रहता है इसलिये अमीर घराने के बच्चे ही इन में प्रवेश पा सकते हैं। यह एक बहुत बड़ा खतरा है जिससे इन स्कूलों को बराबर बचाना पड़ेगा। यदि केवल अमीर घराने के बच्चे ही इन स्कूलों में पढ़ सकते हैं तो ये किसी माने में जनतांत्रिक नहीं कहे जा सकते। जो भी बच्चे वहाँ पढ़कर निकलेंगे उनका सामाजिक दायरा छोटासा और दृष्टिकोण संकुचित होगा। भिन्न भिन्न वर्गों में जो संस्कृति का आधार होना चाहिये उनसे ये बच्चे वंचित रहेंगे। इसलिये ऐसे स्कूल जो केवल धनी वर्ग के बच्चों की ही सेवा करते हैं राज्य की विशेष सहायता के अधिकारी नहीं हो सकते। इन स्कूलों की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि इनमें प्रवेश का आधार योग्यता हो, न कि धन। ऐसा करने पर ही ये स्कूल राज्य की सहायता के अधिकारी हो सकते हैं और जनतांत्रिक कहे जा सकते हैं।

सार्वजनिक स्कूल शिक्षा की अन्य आवश्यकताएं भी पूरी करते हैं। समाज में ऐसे स्कूलों की हमेशा आवश्यकता रहेगी जिनमें बच्चों के लिए निवास और भोजन सम्बंधी व्यवस्था हो। कई माता पिता

बहुत व्यस्त रहते है, कई लोगो को जगह जगह भ्रमण करना पडता है, उनके बच्चो की शिक्षा व देख रेख घरो मे भली प्रकार नही हो सकती। कई बच्चो की घरेलू परिस्थिति, विभिन्न कारणो से, ऐसी नही होती कि उनकी शिक्षा भली प्रकार हो सके। ऐसी परिस्थितियो मे इस तरह के स्कूल समाज की बहुत बड़ी आवश्यकता को पूरी करते है। ४५

ऊपरके विवरण से यदि हम यह मान लेते है कि सार्वजनिक स्कूलो का राष्ट्रीय शिक्षा मे एक महत्वपूर्ण स्थान है तो उससे यह अनुमान निकलता है कि राज्य इन स्कूलो को अधिक से अधिक आर्थिक सहायता दे जिससे ये अपने प्रयोग सफलतापूर्वक कर सके। साथ ही साथ राज्य को यह भी चाहिये कि जहाँ तक हो सके इन स्कूलो पर किसी प्रकार का नियन्त्रण तथा दवाव न डाले। ये स्कूल इसलिये स्थापित किये गये है कि इनमे शैक्षणिक प्रयोग हो सके। यदि राज्य इन पर नियन्त्रण रखता है तथा राजनैतिक दवाव डालता है तो यह साफ है कि ये स्कूल अपने मन्तव्य को पूरा नही कर सकते। शैक्षणिक प्रयोग के लिए स्वतन्त्रता का वातावरण चाहिये। शिक्षा सामाजिक आदर्शो को प्राप्त करने का साधन हो सके इसके लिए भी यह आवश्यक है कि उस पर दान देने वाले, प्रवन्ध समिति के सदस्य, राज्य कर्मचारी आदि किसी भी अधिकारी का किसी भी तरह का दवाव न पडे। जहाँ दवाव पडता है वहाँ शिक्षा मे समाज का पुनर्निर्माण करने की जीवन शक्ति नही रहती। दान देने वाला राज्य को तथा धनी लोगो को यह विचार कर लेना चाहिये कि

---

४५. J Leonard Sherman · Is the Private Secondary School anti-democratic in "*School and Society*" volume 69 March 12, 1949, Pages 193-195

दान देने के बाद वे और किसी प्रकार की माँग इन शालाओं से नहीं करेंगे सिवाय इसके कि ये शालाएँ लोकतंत्र के विकास के लिए निरंतर नये नये प्रयोग करती रहें और समाज को अग्रगामी बनाने में अपना पूरा हाथ बटाती रहें। ऐसा होने पर ही ये स्कूल अपने लक्ष्य को पूरा कर सकते हैं।

भारतीय लोकतंत्र को बनाने में स्कूलों का स्थान

भारतवर्ष ने लोकतन्त्री विधान स्वीकार कर लिया है जिनके द्वारा प्रत्येक नागरिक को निम्न लिखित अधिकार मिल सकेंगे —

१—न्याय : सामाजिक, आर्थिक और राजनैनिक।

२—स्वतंत्रता : विचारों की, भाषा की, विश्वास की, पूजा व धर्म की।

३—समानता : पद तथा अवसर की

४—भ्रातृभाव: पैदा करना जिससे व्यक्ति का महत्व और राष्ट्र की एकता कायम हो सके।

लोकतन्त्र जीवन का एक तरीका है जिसकी बुनियाद नैतिकता है और जब तक हम उसके बुनियादी नैतिक उसूलों को नहीं समझते और उनको जीवन में अंगीकार नहीं करते तब तक हम वास्तव में लोक-तन्त्रिक नहीं होते।

भारतीय विधान के प्रारम्भ में ही लोकतन्त्र के उन मूल सिद्धान्तों का जिक्र किया गया है जो लोकतन्त्र की बुनियाद हैं; वे हैं न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ भाव। लोकतन्त्र इन सिद्धान्तों को इसलिये महत्व देता है कि इनका आधार है व्यक्ति का महत्व। लोकतन्त्र व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान करता है और सारे समाज का संगठन उस दृष्टि से करता है कि उसमें व्यक्ति का पूर्ण रूप से विकास हो सके। न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ भाव; ये सब सिद्धान्त ये उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन है।

कागज पर लिखा हुआ विधान जीवन का तरीका बन सके उसके लिए हमको हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन करना पड़ेगा। हमारी मनोवृत्ति, हमारे रहन सहन के तरीके, हमारे समाज की समस्याएँ और संगठन इन सब को नये ढाँचे पर ढालना होगा। परन्तु सबसे आवश्यक और तात्कालिक सुधार जहाँ हमको करना है वह है शिक्षा का क्षेत्र। शिक्षा तात्कालिक समाज के मूल्यों का प्रतिबिम्ब होती है पर उसका यह भी काम है कि वह नये समाज का निर्माण करती रहे। हमारी आधुनिक शिक्षा एक ग़ैर सरकारी हुकूमत का अब तक प्रतिबिम्ब रही है, जिसका मन्तव्य केवल लोगों को आधीन रख कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना था। अब जब हम लोकतन्त्रीय विधान को स्वीकार करते हैं तो इस दृष्टि से शिक्षा में भी काफी सुधार होना चाहिये। इस नई परिस्थिति में समाज को निर्माण करने की विशेष जिम्मेदारी स्कूल की हो जाती है। कहने का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि स्कूल समाज को निर्माण करने की पूरी जिम्मेदारी ले सकता है पर यह अवश्य है कि स्कूल के अन्दर नये मूल्यों के प्रति चेतना जाग्रत करने के लिये शिक्षक काफी सफल प्रयत्न कर सकता है। ४६

१—सबसे पहले तो इस बात की आवश्यकता है कि हमारे देश में पढ़ने योग्य सब बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा हो। जब तक हम देश में अनिवार्य शिक्षा नहीं कर पाते हैं तब तक देश का लोकतन्त्र केवल नाम मात्र ही होगा। लोकतन्त्र का सर्व प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि देश के सब बच्चों को समान अवसर मिले। लोकतन्त्र समाज का वह ढाँचा है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया विकास करने का मौका मिलता है। जाति, बुद्धि और सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति

४६. William H. Kilpatrick : The Educational Frontier Pages. 160–265.

के कारण किसी प्रकार की रुकावट नही होती। आज हम देखते है कि देश के अधिकांश बच्चे जिनको स्कूल मे रहना चाहिये, बाल्यकाल मे ही अपनी जीविका निर्वाह के लिये काम मे लगा दिये जाते है। इन बच्चो मे कई ऐसे प्रतिभाशाली बच्चे होगे जिनको यदि अवसर मिले तो स्वयं ऊँचे उठ जायं और समाज को भी ऊँचा उठा दें।

लोकतन्त्र की सफलता के लिये तथा उसकी रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को विकास करने का समान अवसर प्राप्त हो। समान अवसर से यहाँ यह मतलब नही है कि सभी बच्चों को एक ही तरह की शिक्षा मिले परन्तु इसका मतलब यह अवश्य है कि प्रत्येक बालक को अपनी बुद्धि और योग्यता के अनुसार शिक्षा द्वारा विकास करने का अवसर मिले।

इस सिद्धान्त को कार्य रूप मे परिणत करना सरल नही है। हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा की सार्जेन्ट योजना ४० वर्ष की थी। बाद में खेर कमेटी ने जो योजना रखी उसके अनुसार सारे देश में १६ वर्ष में अनिवार्य शिक्षा का प्रसार करने की सिफारिश थी। यह योजना उस समय तक केवल कागज परही रहेगी जब तक कि इसको कार्यरूप में परिणत करने की लगन औरजोश हम में नही होगा। लोकतन्त्र में हमारा कितना विश्वास है और उस तरफ हम कितना आगे बढना चाहते है उसका नाप अनिवार्य शिक्षा ही है। प्राय. यह कहा जाता है कि देश की आर्थिक परिस्थिति खराब होने से तथा धनाभाव के कारण ये योजनाए कार्यरूप में परिणत नही हो सक रही हैं। परन्तु यह केवल एक भ्रम है जिसमें हम अपने आपको भुलाये रखते है। लोकतन्त्र को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि हम प्रत्येक व्यक्ति को विकास करने का पूरा मौका देंगे। अत: इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये चाहे कितना ही त्याग करना पडे हमको उसके लिये तैयार रहना चाहिये। यदि उस तरफ हम प्रगति नही करते हैं तो हमारा जनतन्त्र में पूरा विश्वास प्रगट नही होता।

२— जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हमारा स्कूल बच्चों को उस समाज की पूरी जानकारी करावे जिसमें वे रहते हैं। लोकतन्त्र प्रत्येक नागरिक से यह अपेक्षा करता है कि वह समाज की समस्याओं को समझे और उनको सुलझाने मे अपना योग दे। इसका मतलब यह है कि विद्यार्थियो को सामाजिक समस्याओं के गढेगढ़ाये उत्तर हम नहीं दे सकते वरन् हम उनसे यह आशा करते है कि समाज की समस्याओ को वे खुद समझने का प्रयत्न करें।

इस सिद्धान्त को अमल में लाने का एक परिणाम यह भी होगा कि आज समाज की जितनी भी विवादास्पद समस्याएं है उनसे विद्यार्थी अलग नही रह सकेगा। हमारे समाज में पूंजीवादी और मजदूरो का, किसानों और जागिरदारों का, धर्मानुयायी और बुद्धिवादियो का, सवर्ण जातियो तथा हरिजनो का जो सघर्ष है उसे विद्यार्थियो को अच्छी तरह समझना चाहिये और शान्तिपूर्वक इन समस्याओ के हल निकालने चाहिये। विद्यार्थी जब स्कूल से निकलें उस वक्त उनको लोकतन्त्र के नैतिक आधार मालूम होने चाहियें। उनको यह स्वयं निर्णय करना चाहिये कि उनके देश के लिये किस प्रकार का आर्थिक संगठन लाभप्रद होगा। विज्ञान और धर्म का उनके जीवन में क्या स्थान है यह भी उनको मालूम होना चाहिये। इसी प्रकार के अन्य कई विवादास्पद विषय है जिन पर विचार करके बच्चो को अपने निर्णय स्वयं करने चाहियें। स्कूलो का यह कर्तव्य है कि बच्चो पर अपने निर्णय नही लादें वरन् इन समस्याओ के हल निकालने में उनकी मदद करे। लोकतन्त्र को अपने आप में और बुद्धि के तरीके में विश्वास होना चाहिये। बुद्धि से जो नतीजे बालक निकालेंगे और जो निर्णय करेंगे वे निश्चित होगे और लोकतन्त्र को दृढ बना सकेंगे।

३—लोकतान्त्रिक स्कूल के लिये यह भी आवश्यक है कि जिन आदर्शों को लोकतन्त्र महत्व देता है वे स्कूल के दैनिक जीवन में

चरितार्थ हो। हमारी आज कल की पाठ्य पद्धति लोकतान्त्रिक तरीको के अनुकूल नही है। जिन पाठ्य पुस्तको को हम स्वीकार करते है और जो पाठ हम बच्चो को पढाते है उनका अधिकाश मे बच्चो के जीवन से कोई सम्बन्ध नही होता। जब तक शिक्षा बच्चो की आवश्यकता और रुचियो के अनुकूल नही होती है तब तक शिक्षा एकागी होती है। लोकतान्त्रिक शिक्षा का यह बुनियादी उसूल है कि शिक्षा का कार्य शिक्षक और विद्यार्थी दोनो के मेल से पूरा हो। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि हम नागरिको मे प्रत्येक काम को करने की प्रेरणा जागृत करे। जब तक हम बच्चो पर शिक्षा का पाठ्य क्रम लादते है और उनकी रुचियो की अवहेलना करते है तब तक उनकी स्वयं काम करने की प्रेरणा जागृत नही कर सकते।

लोकतन्त्र के लिये यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थियो मे पारस्परिक सहयोग तथा सहकारिता की भावना जागृत हो। उसको जागृत करने का तरीका यह है कि स्कूलो मे हम ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करे कि जिनके कारण बच्चो को अनायास ही एक दूसरे के साथ मिलकर काम करना पडे। इसी के साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र मे जितने भी काम करने वाले लोग है— अध्यापक, प्रधानाध्यापक, अन्य शिक्षा के अधिकारी तथा माता पिता–वे सब मिल कर शिक्षा की नीति और कार्यक्रम निर्धारित करे। अभी तक जो कार्य शिक्षा में होता है वह एक दूसरे के आधिपत्य मे चलता है। लोकतान्त्रिक आदर्शों को प्राप्त करने के लिये सपूर्ण शिक्षा-कार्य पारस्परिक सहयोग द्वारा चलना चाहिये। कार्यकर्ताओ का आपस मे अधिकाधिक सम्पर्क होना आवश्यक है। जितने भी लोगो का शिक्षा मे सम्बन्ध है उन सब को यह महसूस होना चाहिये कि शिक्षा की जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर नही किन्तु उन सब पर है। शिक्षा विषयक नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करने मे कार्यकर्ताओ का बहुमत होना चाहिये। इन लक्ष्यो को कार्य रूप मे परिणत करने के लिये कई लोकतान्त्रिक तरीको का निर्माण

हुआ है। स्कूलों में विद्यार्थियों की पंचायतें, पितृसंघ, स्कूल की कमेटियाँ आदि ऐसे ही तरीके हैं जहाँ जनता के सभी हितों का प्रतिनिधित्व होता है। लोकतंत्र को विकसित करने के लिये हमको इन सब तरीको को काम में लाना चाहिये।

४— लोकतान्त्रिक स्कूल के लिये यह भी आवश्यक है कि वह समाज से अलग न रहे वरन् जिस समाज में स्थित है उसका वह केन्द्र हो। स्कूल का पाठ्य क्रम समाज की आवश्यकताओं से सम्बन्धित होना चाहिये। हमारे देश में स्कूल समाज में तो रहते हैं लेकिन समाज के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही रहता। आस पास का समाज खेती, व्यवसाय तथा उद्योग धन्धों में व्यस्त रहता है और स्कूल के अध्यापक और विद्यार्थी अपनी चार दिवारी में बन्द होकर पुराने निर्जीव पाठ्यक्रम को चलाने का विफल प्रयत्न करते रहते है। यह हालत किसी भी दशा में समाज के लिये श्रेयस्कर नही हो सकती और न समाज को आगे बढाने में सहायक ही हो सकती है। समाज और स्कूल का एक दूसरे पर असर होना चाहिये। समाज के काम, उसकी गति, उसकी प्रवृत्तियो आदि का प्रतिबिंब स्कूल में दिखाई पडना चाहिये और स्कूल का यह काम है कि इन सब प्रवृत्तियों में वह समाज का मार्ग दर्शन करे जिससे लोकतान्त्रिक जीवन संगठित हो सके।

स्कूल का यह काम है कि वह व्यक्ति में, समाज के प्रति चेतना जागृत करे। आजकल के शिक्षित वर्ग की सब से बड़ी खराबी यह है कि उसको समाज के प्रति चेतना नही होती। हम अपने चारों तरफ गरीबी, गंदगी, और बीमारी देखते हैं पर उसका हमारे जीवन पर कोई असर नहीं होता। स्कूल का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति में समाज के प्रति चेतना जागृत करे जिससे वह सामाजिक दोषो को हटाने का सजग होकर प्रयत्न करे। इस प्रकार की सामाजिक चेतना जागृत होने पर ही हम समाज को समानता और न्याय के आधार पर स्थित कर सकते है।

५—लोकतन्त्र मे स्कूल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज का पुनर्निर्माण करता रहे। स्कूल को प्रगतिशील होना चाहिये और जीवन के व समाज के मूल्यों को प्रति दिन आंकते रहना चाहिये। उसका यह कर्तव्य है कि वह जितनी भी प्रतिक्रियावादी शक्तियां हैं उनका मुकाबिला करे। स्कूल यदि इतना नहीं करता है तो वह समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता।

नये समाज के लिये नया पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम समाज की आवश्यकताओ को पूरी करता है। जो भी विषय स्कूलो में पढ़ाये जाते हैं उनका विशेष मनतव्य होता है और समाज के लिये वे विशेष प्रयोजन रखते हैं। स्कूल के पाठ्यक्रम और समाज के लक्ष्य मे पारस्परिक सम्वन्ध है। जैसा समाज का लक्ष्य होगा उसी प्रकार का स्कूलो का पाठ्यक्रम होगा। यदि समाज औद्योगिक कुशलता चाहता है तो स्कूलो में औद्योगिक शिक्षण को प्रधानता दी जायगी; अगर समाज में विभाजक प्रवृत्तियाँ प्रवल हैं तो स्कूल के वर्ग भी इस आधार पर वने हुए होंगे और यदि वह एकता उत्पन्न करना चाहता है तो वह इस वात का प्रयत्न करेगा कि सव ही वच्चो को स्कूल में समान अवसर और अनुभव प्राप्त हो। यह निश्चय समझना चाहिये कि जो भी हमारा पाठ्यक्रम होगा वह समाज के मन्तव्य और लक्ष्य से निर्धारित होगा।

जव हम विदेशी राज के आधीन थे तव शिक्षा का पाठ्यक्रम एक विदेशी साम्राज्य को कायम रखने के हेतु वनाया गया था। भाषा, इतिहास भूगोल सव इसलिये हमको पढाये जाते थे कि हम अंग्रेजो की महानता और अपनी लघुता को स्वीकार करलें। मातृ भाषा की जगह अंग्रेजी को प्रमुख स्थान दिया जाता था, देश के गौरवपूर्ण इतिहास को कलुषित करके हमारे सामने रखा जाता था तथा भारतीय संस्कृति के अग्रगामी नेताओं का इतिहास में कोई स्थान नही था। इसी प्रकार जो भूगोल हमको पढाया जाता था उससे हमारे मन में अपने देश के प्रति कोई सम्मान अथवा प्रेम पैदा नही होता था परन्तु केवल यह अनुभव होता था कि हमारा देश व्रिटिश साम्राज्य का एक अंग मात्र है। तात्पर्य यह कि सारा पाठ्यक्रम विदेशी राज्य को स्थिर रखने का केवल एक साधन

मात्र था। यदि हम अपने देश के पाठ्यक्रम के विकास का अध्ययन करें तो हमें यह अनुभव होगा कि पाठ्यक्रम में हमेशा किसी विशेष वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा किया गया है। उपनिषद् काल में जब हमारा समाज प्रगतिशील था उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार अध्ययन कर सकता था। जाति तथा कुल के कारण किसी प्रकार की रुकावट नही थी। उसके वाद जब हमारे समाज में कुछ जड़ता आ गई और ब्राह्मणो का आधिपत्य हो गया तब शिक्षा भी जाति विशेष के अनुसार होने लगी। प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसका काम और धन्धा जन्म से ही निश्चित था और उसकी शिक्षा उसी के अनुसार होती थी।

लडाई के वाद हमारे देश में एक महान परिवर्तन हुआ है। १५ अगस्त १९४७ को हम स्वतन्त्र हुए और २६ जनवरी १९५१ को हमने जनतान्त्रिक विधान स्वीकार किया जिसका आधार न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव है। समाज के इन लक्ष्यो को यदि हम प्राप्त करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि इन्हींके अनुसार हम अपने पाठ्यक्रम को भी बनावें। जब हमारे यहाँ विदेशी राज्य था तब स्कूलो मे केवल लिखना पढना काफी समझा जाता था परन्तु जब से हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया है और हमने लोकतन्त्र के आधार पर समाज का निर्माण करने का प्रण किया है तब से हमारी शिक्षा का लक्ष्य और पाठ्यक्रम भी वदल जाता है। इसके उपरान्त जिस समाज में हम रह रहे हैं वह पहले से अधिक पेचीदा हो गया है। इस युग में केवल लिखना पढना हमारे लिये काफी नही है। यह भी काफी नही है कि हमारे बच्चे केवल सांस्कृतिक विषयो का ही अध्ययन करें। नये युग की यह आवश्यकता है कि हमको प्राकृतिक और सामाजिक शास्त्रों का समन्वित ज्ञान हो। हमारे युवको और बालको को एक औद्योगिक समाज में रहना है जो वहुत ही पेचीदा है और जिसमें अनेक समस्यायें हैं। इस समाज में सफलता प्राप्त करने के लिये प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान भी महा-

यता अनिवार्य है। हमारे पाठ्यक्रम मे इन विषयो को महत्व देना जरूरी हो जाता है इसके अलावा लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिये कुछ नैतिक गुणो की भी आवश्यकता होती है। जब तक हमारा पाठ्यक्रम उन नैतिक गुणो को विकसित करने का साधन नही बनता तब तक हम अपने बच्चो को भविष्य के लिये समुचित प्रकार से तैयार नही कर पाते। विदेशी राज्य में यह काफी था कि हम पढ लिख जायँ ताकि शासको की आज्ञा का भली प्रकार से पालन कर सकें। स्वतन्त्र जनतान्त्रिक राज्य के लिये उसी प्रकार यह आवश्यक है कि हम अधिक से अधिक ऐसी शिक्षा ग्रहण करें कि जिसमें ज्ञान, कौशल, सृजन तथा नैतिक गुणो का समावेश हो। ऐसा यदि नही होगा तो हमेशा यह खतरा रहेगा कि हमारे देश में लोकतन्त्र के स्थान पर तानाशाही हो जाय।

जितने भी पाठ्य विषय है उनको हमें नये समाज का लक्ष्य सामने रख कर पढ़ाना होगा। विज्ञान का अध्ययन इसलिये होना चाहिए कि विद्यार्थियो मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बन सके। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि विद्यार्थी वस्तुस्थिति को ध्यान में रख कर समस्याओका व्यवस्थित रूप से हल निकालने का प्रयत्न करें और अपने परिणामो की निरन्तर जाँच करते रहे। पहिले यह समझा जाता था कि केवल विज्ञान के अध्ययन से ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण बन जाता है परन्तु अनुभव से यह मालूम हुआ है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने के लिये विज्ञान का भी वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन हो। वातावरण में खोज और अनुसंधान की प्रवृति तथा सिद्धान्तो और परिणामों को जाँचने की वृत्ति जब उपस्थित रहती है तभी वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनता है। इस नये युग में यह आवश्यक है कि हम विद्यार्थियो मे खोज करने की प्रवृत्ति बनावें। लोकतन्त्र का आधार विवेक है और विवेक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बनता है।

इसी प्रकार भूगोल के अध्ययन द्वारा बच्चो को अपने प्रदेश के प्रति

प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। उनको आस पास के समाज के साथ आत्मीयता का अनुभव होना चाहिए और यह मालूम होना चाहिये कि वे आदतें, रस्म रिवाज, रहन सहन के तरीके उसी समाज से ग्रहण करते हैं जिसके कि वे सदस्य हैं। जैसे जैसे बच्चों का अनुभव बढ़ता जाता है और वे अपने वातावरण को टटोलते और खोजते जाते हैं वैसे वैसे उनके समाज का और प्रदेश का दायरा भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार घर मे व अडोस पडोस से नगर, नगर से प्रान्त, प्रान्त से राष्ट्र और राष्ट्र से दुनिया के साथ बालक एकता स्थापित करते जाते हैं। आस पास के समाज के धन्धो का ज्ञान करके बच्चो को यह ज्ञान होना चाहिए कि उनके आराम के साधन अन्न, वस्त्र, मकान आदि कितने परिश्रम से जुटाये जाते हैं और उनको बनाने में कितने लोगो का सहयोग है। बच्चे खेतो मे तथा कारखानो मे जाकर देखें कि अन्न और वस्त्र उत्पादन करने मे कितना पसीना बहाया जाता है और कितना कम मुनाफा श्रमिको को उनके श्रम का मिलता है। जब इस प्रकार के वास्तविक अनुभव बच्चो को होंगे तभी उनमें काम और श्रम के प्रति अच्छी भावना पैदा होगी और वे श्रम करनेवालो की भावना तथा उनके सुख दुख का अनुभव कर पायेंगे। जब इस प्रकार का ज्ञान और अनुभव स्कूलो मे बच्चो को कराया जायगा तब श्रम और संस्कृति का भेद मिट कर समाज में एकता का भाव पैदा हो सकेगा। इसी प्रकार आस पास के समाज के अध्ययन से बच्चों को यह अनुभव होना चाहिए कि समाज के अधिकाश व्यक्ति नगे और अशिक्षित रहते हैं जिसका मूल कारण मनुष्य की बनाई हुई समाज की अव्यवस्था है। यदि समाज की व्यवस्था ठीक ढग की हो और मनुष्य के प्रति आदर तथा सम्मान हो तो यह विषम स्थिति दूर हो सकती है। बच्चों को यह ज्ञान होना चाहिए कि एक तरफ अनाज व वस्त्र संग्रह किया हुआ रखा है और दूसरी तरफ आवश्यक अन्न और वस्त्र का अभाव है जिसका कारण मनुष्य का स्वार्थ ही है। इस प्रकार के ज्ञान द्वारा बच्चों में सामाजिक चेतना

भारत में अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा

एशिया में राष्ट्रीयता की भावना का उत्कर्ष एक ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन है जिसका प्रभाव भावी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर बहुत गहरा पड सकता है। यह राष्ट्रीयता उस पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरोध स्वरूप है जिसने एशिया के महान् भू-भागो को छोटे-छोटे उपनिवेशो के रूप में परिणत कर दिया है। विदेशी राज्य के जूए को अपने कन्धो से उतार फेंकने के प्रयत्न में एशियायी राष्ट्र राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आदि सभी राष्ट्रीय पक्षो में स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते है। पाश्चात्य देशो की सदियों की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करने की सभी देशो की इच्छा तथा प्राचीन सास्कृतिक समानताएँ एशियायी देशों को आपस में सगठित हो जाने की एक नई चेतना प्रदान कर रही है। अब एशिया के लोग जाग उठे है। वे अपने भाग्य का स्वय निर्माण करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे अपनी नीति अपनाना चाहते है। अब न तो वे साम्राज्यवादियो के हाथो की कठपुतली रहना चाहते है और न अपने घरेलू मामलो में उनका हस्तक्षेप सहना चाहते है।

भारत, जो कि अभी स्वतन्त्र हुआ है, इस अन्तर्राष्ट्रीय कुटुम्ब में अपने सभी पड़ोसी राष्ट्रो को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने मे सहयोग प्रदान कर रहा है। भारत अपनी भौगोलिक स्थिति तथा एशियायी अन्य देशो के साथ अपना सांस्कृतिक सम्बन्ध होने के कारण, इन नई शक्तियो का मध्य बिन्दु बना हुआ है।

यह बात स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है कि एशिया की एकता किसी शक्ति विशेष या शक्ति-समूह के विरुद्ध नही है। एशिया के निवासियो का यह एक ऐसा प्रयत्न है जिसमे वे अपने स्वत्वो द्वारा,

एक दूसरे के सहयोग से; अपने भाग्य का निर्माण करना चाहते है। अपने अन्य पडोसी देशो से भी सहायता लेने में उन्हे कोई आपत्ति नही है, यदि वे देश स्वेच्छा से, बिना उनपर अपना आधिपत्य जमाये, उनकी सहायता करना चाहते हो। सयुक्त राष्ट्र संघ मे एशिया की उस एकता का स्वागत सभी शान्ति प्रिय तथा जनतान्त्रिक देशो द्वारा होना चाहिए क्योकि सयुक्त एशिया आजके ससार की एक महान् शक्ति सिद्ध हो सकती है। इसके द्वारा शान्ति का प्रसार तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो की पूर्ति सम्भव है।

एशिया की इस परिवर्तित होती हुई परिस्थिति में, सयुक्त राष्ट्रसघ के उद्देश्यो के आधार पर तथा भारत जो प्रयत्न एक सयुक्त जनतान्त्रिक एशिया बनाने का कर रहा है, उसको ध्यान में रख कर, अन्तराष्ट्रीय शिक्षा की समस्या पर विचार किया जाना चाहिये।

भारत जब साम्राज्यवाद से लोहा ले रहा था तब उसमें उत्कट राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ था, जिसकी अभिव्यक्ति उसके स्कूलो और कालेजो में होना भी स्वाभाविक था। वास्तव में कई संस्थाओ का निर्माण तो अपने विद्यार्थियो में राष्ट्रीयता का पोषण करने के लिये ही हुआ परन्तु अब जब कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है यह कहाँ तक उचित है कि अब भी युवको के मन में राष्ट्रीय भावना भरी जाय। भारत जिस जनतंत्र की स्थापना चाहता है क्या राष्ट्रीयता का मेल उससे बैठता है? क्या यह सभव है कि युवको में राष्ट्रीयता की शक्तिशाली भावना भरी जाय और साथ ही साथ ऐसी मनोवृत्ति भी बनाई जाय जो उनको विश्व सघ की ओर प्रेरित कर सके? दूसरे शब्दो में क्या यह सम्भव है कि एक व्यक्ति अच्छा देश भक्त हो और साथ ही साथ विश्व सघ का अच्छा नागरिक भी?

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या को सुलझाने के पूर्व उपरोक्त दो प्रश्नो पर विचार करना आवश्यक है।

भारत आज चौराहे पर खड़ा है। भारतीय नागरिको के जीवन में राष्ट्रीय भावना का प्राबल्य रहा है। ,इसके सहारे ही वे साम्राज्यवादी शोषण को समाप्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। इसी के कारण लोगो में वे उच्च भावनाएँ पनपी जिनके फल स्वरूप उन्होने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए बड़े बडे बलिदान किये। इसी भावना ने लोगों को अपने प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाया जिसका जीता जागता नमूना महात्मा गांधी का अहिंसक तथा आत्म विरक्त जीवन था। इसी भावना ने लोगो को यह भान कराया कि उनकी भी अपनी एक स्वतन्त्र तथा अमर संस्कृति है, उनकी अपनी एक परंपरा है जो उन्हें अपने राष्ट्र के साथ एक सूत्र में पिरोये हुए है। इसी भावना ने लोगों में अपनी भाषा, कला, और साहित्य के प्रति प्रेम उत्पन्न किया और लोगो में वह आत्म सम्मान जागृत किया जिसके बिना भौतिक या नैतिक क्षेत्र में उन्नति करना सम्भव नही था। सब से बड़ी बात जो इसमें हुई वह है लोगों में एकता तथा सामाजिक संगठत की ऐसी भावना का प्रादुर्भाव जैसी पहले कभी नही थी। राष्ट्रीयता की भावना के ही ये वरदान है। संकट में भारतीयो को जिसके द्वारा ये लाभ प्राप्त हुए उस राष्ट्रीयता को नष्ट करना या दबाना एक भूल होगी। यदि हम में बुद्धि और नैतिकता है तो हम राष्ट्रीयता के फल स्वरूप उत्पन्न हुई इस शक्ति का उपयोग इस प्रकार कर सकते है कि जिससे अपने राष्ट्र का भी भला हो और अन्य राष्ट्रो का भी हित और स्वत्व हम समझ सकें। भारतीय नागरिक शिक्षा और व्यक्ति को विश्व निर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम में भाग लेने योग्य बनाने वाली शिक्षा में कोई संघर्ष नही होना चाहिये, यदि हम यह भली प्रकार समझ लें कि भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र है और साथ ही साथ वह उस विश्व कुटुम्ब का भी एक सदस्य है जिसका कि दूसरा नाम सयुक्त-राष्ट्र संघ है।

आज के भारतीय जनतंत्र को साम्यवादी दल से पूरा खतरा है

जो कि वर्तमान देश की गरीबी और सामाजिक अन्याय को आधार बना कर देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैलाने का प्रयत्न कर रहा है। साम्यवादी, युवको को अनुचित आदर्श दिखा कर, गरीब जनता को कुमार्ग में भटकाकर, उन्हें हिंसा का मार्ग ग्रहण करने की ओर प्रेरित करते है। यह मार्ग वे एक ऐसे अन्य राष्ट्र के मार्ग दर्शन में ग्रहण करते हैं जिसका इतिहास तथा संस्कृति नितान्त भिन्न है। उनको भारतीय संस्कृति तथा इतिहास के प्रति कोई श्रद्धा नही है। इस आन्दोलन से हमारे राष्ट्र को महान खतरा है और इसका हर प्रकार से विरोध करने के लिए हमारे युवको में स्वस्थ राष्ट्रीय भावना का विकास होना चाहिये। यह सभव है कि हमारे जनतान्त्रिक प्रयोग में हम ऐसी संस्थाएँ या सरकार बनाएं जिसका ढाँचा पाश्चात्य देशो से भिन्न हो, परन्तु हमारी सभी संस्थाओ की रचना हमारी संस्कृति की पृष्ठ भूमि पर होनी चाहिये। इसका यही अर्थ है कि हमको व्यक्ति की वास्तविकता का सम्मान करना चाहिए और साथ ही व्यक्तियो की भिन्नताओ और विशेषताओ को भी समझना चाहिए। सामाजिक संघर्ष की समस्या को बुद्धि द्वारा आलोचनात्मक ढग से सुलझाना चाहिए नकि हिंसात्मक साधनो द्वारा।

भारत के निवासियो को कम से कम इस बात से तो सतर्क रहना होगा कि जिन उद्देश्यो के लिए राष्ट्र ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का संघर्ष किया है वे दृष्टि से ओझल न हो जायें। हमको जन साधारण के लाभ का ध्यान बराबर रखना होगा और यह देखते रहना होगा कि वे विशेषाधिकार प्राप्त दलो के निहित स्वार्थ के अधीन न हो जायें। राष्ट्र के प्रति सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति का स्वरूप होना चाहिये ऐसे दलो और शक्तियो के साथ सबध, जो राष्ट्र को अधिकाधिक उत्पादन, धन के समान वितरण और समान न्याय की ओर अग्रसर करें। हमारे देश के जमीदार, पूंजीपति, सम्प्रदायवादी, बुद्धि जीवी और मध्यम श्रेणी के लोग अपने निहित स्वार्थों की रक्षार्थ राष्ट्रीय भावना द्वारा अनुचित लाभ

उठाने का प्रयत्न करते है। ये लोग राष्ट्रीयता के नाम पर, राज्य द्वारा अपना आर्थिक रक्षण चाहते हैं। जव ये किसानो और मजदूरों को राष्ट्रीयता का नाम लेकर संघर्ष न करने को कहते हैं तो वे चक्कर में पड़ जाते है और राष्ट्र की हानि समझ कर, अपने मानवोचित अधिकारो के लिये भी संघर्ष नही करते। उनसे मांग की जाती है कि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थो को राष्ट्रीयता के नाम पर और राष्ट्र हित में न्योछावर करदें। राष्ट्रीयता के नाम पर जन साधारण अधिकांश में झुक जाता है और निहित स्वार्थी दल; पूंजीपति या धार्मिक; जनता के इस अधविश्वास का अनुचित लाभ अपने स्वार्थ के लिये उठाता है।

स्वातन्त्र्य संग्राम के समय हमारे नेताओ के समक्ष स्वतन्त्रता और समानता के उच्च आदर्श थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ने जिस महान कार्य को उठाया वह तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक हम करोडो लोगो की गरीवी दूर न करदें और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सुरक्षा का प्रवन्ध सब के लिये सुलभ न करदें। यदि राष्ट्रीयता के नाम पर श्रमिक वर्ग की उचित मांगों को कुचल दिया गया या इस आर्थिक समस्या को टाल दिया गया तो हम राष्ट्रीयता के नाम को वदनाम करनेवाले सिद्ध होंगे। साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिये जो राष्ट्रीय शक्ति उत्पन्न की गई है अव उसका उपयोग जन हित के लिये तथा लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिये होना चाहिये। राष्ट्रीयता का गठ वन्धन अव जनतंत्र के साथ होना चाहिये वरना अव तक का जनता का सारा संघर्ष और वलिदान व्यर्थ हो जायगा। आनेवाले जमाने में हमारी परीक्षा इसी वात में होगी कि जनतांत्रिक समाज के सिद्धान्तों को किस हद तक हम राजनैतिक क्षेत्र से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र तक लाने में समर्थ हुए हैं। स्वातन्त्र्य संग्राम के समय लोगों ने अपने स्वार्थ और अपनी आवश्यकताओ को, स्वतन्त्रता के महान उद्देश्य के लिये समर्पित कर दिया था। भारत के निवासी अव सचेत हो गये हैं और आर्थिक तथा

सामाजिक सुधार की थोथी बातो से अब उनमें राष्ट्रीयता की भावना नही उभारी जा सकती । लोगो की उदासीनता को देश प्रेम में परिवर्तित करने के वास्ते आवश्यक है कि उनको स्वतन्त्रता के फल चखने का अवसर प्राप्त हो । सामाजिक और आर्थिक अधिकार तथा लाभ केवल कुछ ही लोगो तक सीमित न हो वरन् उनका उपभोग सर्व साधारण को प्राप्त हो । अन्तराष्ट्रीय शिक्षा में इस नीति का प्रतिपादन आवश्यक है, क्योकि आर्थिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक समस्याएं एक दूसरी के साथ गुथी हुई है । गृह नीति और विदेश नीति को हम अलग अलग नही कर सकते । कोई राष्ट्र अपने ही लोगो को मूलभूत सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारो से वचित रख कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में उच्च नीति का अनुसरण नही कर सकता । इसलिये हमारी राष्ट्रीयता और [illegible] में कोई विरोध नही यदि उसमें पूँजीवाद और संकीर्ण राष्ट्रीयता के दुर्गुण न समा जायँ ।

साम्यवाद के अलावा, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, एक खतरा और है जिससे हमको राष्ट्रीयता की रक्षा करनी है, और वह है साम्प्रदायिकता । भारत में साम्प्रदायिकता एक ऐसी भयानक वस्तु रही है और है जिसके विरुद्ध राष्ट्रीयता को लड़ना है । [illegible] साम्प्रदायिकता का बहुत बड़ा मूल्य हमको चुकाना पड़ा है । [illegible] बातो के साथ साथ साम्प्रदायिकता एक मुख्य बात थी जिसने देश को दो राज्यो में विभाजित कर दिया । इसके कारण राष्ट्रपिता गांधीजी के जीवन का भी उत्सर्ग हुआ । दुर्भाग्यवश विभाजन के पश्चात भी दोनो राज्यो में कोई मेल नही है । साम्प्रदायिक मनोभावनावाले लोग इस स्थिति का पूर्ण लाभ उठा कर राष्ट्रीयता को समाप्त कर देना चाहते है । इस मनोवृत्ति को निर्मूल करने के लिये हमको पूर्ण शक्ति लगानी चाहिये । भारत ने सम्प्रदाय-विहीन राज्य का आदर्श स्वीकार किया है और उसे इसी पर दृढ़ रहना है चाहे पाकिस्तान एक साम्प्रदायिक राज्य ही क्यो न रहे । उनके नन्यनाल [illegible] का

प्रभाव हमारी पद्धति पर नही पड़ना चाहिये ।

यदि हम इस घातक मनोवृति का ध्यान रखें और इसको रोक सके तो भारत की राष्ट्रीय जाग्रति बड़ी मूल्यवान और उपयोगी सिद्ध हो सकती है। ऐसी राष्ट्रीयता का पोषण होना चाहिये न कि दमन। स्कूलो और कालेजों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे बच्चो और युवकों में अपनी मातृभूमि के लिये प्रेम पैदा करें, अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रति गर्व उत्पन्न करें और उन व्यक्तियो के प्रति सम्मान पैदा करें जिन्होने सत्य, मानव स्वातन्त्र्य और सामाजिक न्याय के लिये संघर्ष किया और कर रहे हैं ।

भूत काल में शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भावना विकसित करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु अब तक जो कार्य इस दिशा में हुआ है वह भावना प्रधान था। उसमें इस वास्तविकता को हम भूल से गये थे कि अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण राष्ट्रीयता की नीव पर ही हो सकता है। अतर्राष्ट्रीयता एक विचार मात्र ही नहीं हैं जिसका अस्तित्व राष्ट्रीयता के बाहर या उससे भिन्न हो। इसलिये बिना सुदृढ राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का विचार करना असभव ही है ।

शिक्षा योजनाओं में आज की दुनिया के दो मूलभूत तथ्यो का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। पहली बात यह है कि हमारी आज की दुनिया पूर्णतया परस्परावलम्बिनी है । विज्ञान और यन्त्रशास्त्र, राष्ट्रों के बीच की सीमाओं को मिटा रहे है और आज कोई राष्ट्र एकाकी नही रह सकता। अणुबम का आविष्कार मानव जाति को नष्ट करने की धमकी देता है। यदि सब राष्ट्र मिलकर सहयोग से कार्य न करें और एक विश्वसंघ का निर्माण करके सामूहिक रूप मे सुरक्षित न हो जायें तो विनाश अविश्यंभावी है। दूसरी ओर हमको यह भी स्पष्ट रूप मे समझ लेना चाहिये कि ऐसिहासिक विकास के फल स्वरूप आज संसार में

बहुत से विभिन्न राष्ट्र वर्तमान हैं, जिनकी अपनी विशेष संस्कृति तथा राजनैतिक आदर्श हैं। सहयोगी विश्वसंघ स्थापित करने का आदर्श अच्छा है और इसकी अत्यन्त आवश्यकता है परन्तु वह अव्यावहारिक हो जाता है यदि वह विभिन्न राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। लगभग अस्सी राष्ट्रों को ऐतिहासिक चित्रपट से कुछ घंटों में मिटा देने की आशा कोरी कल्पना है।

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज की विश्व स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीयता के साथ साथ ही विकसित की जा सकती है। शांति, सुरक्षा, स्वतन्त्रता और सामाजिक उन्नति के लिए नागरिक शिक्षा का ऐसा कार्यक्रम बनना चाहिए जो नागरिकों के मन में विश्व बंधुत्व का विकास करे। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा के संचालकों को यह स्पष्ट समझना है कि राष्ट्रीयता एक मूलभूत समस्या है। युनेस्को के समान कोई भी विश्व संघ अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार विभिन्न राष्ट्रों और उनके राज्यों द्वारा ही कर सकता है। युनेस्को स्वयं तो विभिन्न राष्ट्रों में शिक्षण कार्य नहीं चला सकता। शांति और न्याय के प्रसार के लिये युनेस्को को अपना अंतर्राष्ट्रीय तथा अंतर्राज्यीय कार्यक्रम तो चलाते रहना चाहिये ही परन्तु वह राष्ट्रीय दायरे में ही कार्य कर सकता है। स्वस्थ और बुद्धिपूर्ण राष्ट्रीयता को दबा देना न तो संभव है न वांछनीय ही।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस अन्तर्राष्ट्रीयता का यहाँ प्रतिपादन किया गया है उसे केवल विश्व-नागरिकता ही न समझा जाए। विश्व-नागरिकता का विचार ऐसी अस्पष्ट मानवता की भावना से है जिसमें राष्ट्रीयता को कोई स्थान ही नहीं है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता को स्वीकार करती है और उसे इतना विस्तृत कर देती है कि वह अन्य राष्ट्रों के हितों को भी ध्यान में रखती है। अन्तर्राष्ट्रीयता

इस वात में विश्वास करती है कि मानव आदर्शों का प्रादुर्भाव तथा संस्करण किसी विशेष सस्कृति, भाषा, रस्म-रिवाज और उसकी विशेष संस्थाओ में ही सभव है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप देना है तो उसका विकास राष्ट्रीयता में तथा उसके द्वारा ही होना चाहिये। यदि हम राष्ट्रीयता को समाप्त करदें तो हमारे पास कुछ नही रह जाता जिसके लिये हम कार्य करें। इसके विना हम व्यक्ति को अच्छा दस्तकार, व्यवसायी या वकील वना सकेंगे पर एक नागरिक कभी नही। नागरिकता के शिक्षण के लिये सामाजिक भावना, सामाजिक विकास और सामाजिक आत्म-सम्मान की आवश्यकता होती है, जिसका पनपना विना राष्ट्रीय भावना के सभव नही होता। स्वदेश भक्ति को मानव मात्र के प्रति श्रद्धा मे परिवर्तित करना सहज है वनिस्पत इसके कि प्रारंभ से ही समस्त ससार के प्रति श्रद्धा पैदा करने का प्रयत्न करना। यदि जनतान्त्रिक आदर्श हर समय हमारे सामने रहें तो हमारी राष्ट्रीयता के सकीर्ण होने का कोई भय न रहे। जनतंत्र का अर्थ एक ही दल में आदान-प्रदान नही वरन् इसका उद्देश्य है विभिन्न दलो में आपसी आदान-प्रदान। जनतांत्रिक समाज द्वारा आयोजित राष्ट्रीय शिक्षा अन्तर्राष्ट्रीय भी अवश्य होगी।

विश्व वन्धुत्व स्थापित करने के हमारे प्रयत्न में इसकी आवश्यकता नही है कि समस्त विश्व की संस्कृति भी एक हो। विश्व की विभिन्न सस्कृतियो को यदि स्वतन्त्र वातावरण में पनपने का अवसर दिया जाय तो वे विश्व सघ निर्माण में अत्यंत सहायक सिद्ध हों। ससार की सस्कृतियाँ परस्पर सहयोगी तथा एक दूसरे के लिये हितकारी सिद्ध होंगी। प्रत्येक विशिष्ट सस्कृति विश्व को अपनी विशेषता प्रदान करेगी तथा उसमे अपने को विशेष सम्पन्न वनाने की सामग्री ग्रहण करेगी। विश्व सघ को चाहिये कि वह अपनी विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयो की स्वतन्त्रता को कम न करे वरन् उन्हें अधिक स्वतंत्रता प्रदान करे

जिससे वे अपनी राष्ट्रीय सस्कृति की अधिक रक्षा करन में समर्थ हो। यही एक मात्र व्यावहारिक मार्ग स्वतन्त्रता और विश्व बन्धत्व का हो सकता है। विश्व-राष्ट्र-सघ का उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रो तथा उनकी संस्कृति को समाप्त करना नही है। वह विभिन्न राष्ट्रो के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा प्रयत्नशील है कि विश्व के सभी वडे छोटे राष्ट्र आपसी सहयोग द्वारा शाति और सामूहिक सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील हो। इस संघ के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ है परन्तु-वास्तविक और व्यावहारिक योजना द्वारा शाति की समस्या को हल करने में सफलता की अधिक सभावना है वनिस्पत इसके कि वास्तविकता पर ध्यान न देकर इसे सुलझाने का प्रयत्न करना।

राष्ट्रीयता और अन्तराष्ट्रीयता तथा विश्व सस्कृति और राष्ट्रीय सस्कृति सवधी कुछ मूल भूत प्रश्नो पर विचार करने के पश्चात् अव हमारे लिये अतराष्ट्रीय शिक्षा पर अधिक अच्छी तरह विचार कर सकना सभव है।

भारत में अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या को तव तक हाथ में लेना सभव नही जव तक इसकी ८८ प्रतिशत अशिक्षित जतना शिक्षित न हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की एक मुख्य मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रारभिक शिक्षा तो मिले ही। जव तक विश्व के मानव समाज में अधिकाश लोग अशिक्षित है हम यह आशा नही कर सकते कि मानव मानव के दृष्टिकोण में समानता आ सकेगी। इसके अतिरिक्त जव तक अधिकाश मानवो को भोजन, सुरक्षा और स्वास्थ्य के सावन उपलब्ध करने से ही अवकाश नही है तव तक यह सभव नही है कि जीवन के समान मूल्य निर्वारित करने का कोई हल हम निकाल पावें। खाद्यान्न की भारी कमी, जीवन का निम्न स्तर, जन सख्या की वृद्धि आदि कुछ ऐसी वातें है जो भारत में शिक्षा प्रसार की योजना चलाने में वाधा उपस्थित करती है। ये सव समस्याएँ आपस में सवंधित है, और विना

देशवासियों को शिक्षित किये न तो संतान वृद्धि रोकी जा सकती है, न गरीबी और न हम अपनी उत्पादक शक्ति का ही विकास कर सकते हैं। इस प्रकार भारत एक दुष्चक्र में पड़ा हुआ है और जन साधारण अज्ञात और उर्ग्गन हैं। यह समस्या इतनी विकट है कि जब तक हम बुनियादी शिक्षा सब बच्चो को अनिवार्य रूप से प्राप्त हो सकने का संकल्प तथा प्रबन्ध कर नही लेते और अशिक्षाको हटा नही देते, तब तक भारत में जनतन्त्र चल नही सकता। जब तक जन साधारण अशिक्षित है भारत मे अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की बात हास्यास्पद है। भारत को अपने जन साधारण को शिक्षित करना होगा परन्तु विश्व संघ, यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा को प्रसारित करने का इच्छुक है तो, भारत को शिक्षित बनाने में सहायता दे सकता है। विश्व के लाभार्थ शिक्षाके जिन साधन सुविधाओ की आवश्यकता सब जगह है उनका उत्तरदायित्व सभी राष्ट्रो पर होना चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में दूसरी बात जो स्मरणीय है वह यह कि यह शिक्षा प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर हो। लोग अपने कौटुम्बिक वातावरण में ही रुचि रखते है जिसमें परिवर्तन लाकर उन्हें विश्व संबंधी व्यापक बातों में रुचि दिलाने के लिये शक्तिशाली मनोवृत्ति की आवश्यकता है और इसी के लिये विश्व-संघ की स्थापना हुई है। यह सोचना भ्रान्ति है कि केवल विश्व के या विश्व-संघ के विषय में कुछ बातें बता देने से ही बच्चो में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास हो जायगा। जब तक कि इन भावनाओं का समावेश उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओ और अनुभवो में नही होता वे उनके लिये अस्वाभाविक होंगी और बच्चे उन्हें शीघ्र ही भूल जायेंगे। भारत के बच्चे और युवक विश्व–संघ में उतनी ही दिलचस्पी लेंगे जितना विश्व-संघ विश्व शान्ति स्थापित करने तथा भारत को अपनी सामाजिक तथा आर्थिक समस्या हल करने में सहायक हो सकेगा।

यहाँ इस बात पर भी भार डालना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से स्कूल के पाठ्य क्रम में केवल अन्तर्राष्ट्रीय सबधो या विश्व इतिहास के विषय में कुछ बाते रख देना नितान्त अर्थ हीन है। सभी विषयो के पढाने में ऐसे नवीनदृष्टि कोण की आवश्यकता है जिसके फल स्वरूप बच्चे विश्व के रहनेवालो के पारस्परिक सम्बन्धो को समझ सकें। भूगोल के पढाने में कच्चे माल का वितरण, यातायात के अन्तर्राष्ट्रीय साधन व अन्य इसी प्रकार की बातो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध समझाने का प्रयत्न होना चाहिये। गणित, भौतिक विज्ञान और यंत्र विज्ञान राष्ट्रीय सीमाओ को काट रहे हैं और उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से हैं। इतिहास की पढाई इस प्रकार हो कि वह स्थानीय वातावरण का विस्तृत वातावरण के साथ सम्बन्ध व्यक्त करे। इसी प्रकार सभी विषयो को पढ़ाया जाय कि वे केवल विषय भावना, प्रातीयता आदि सकीर्णताओ से हम को मुक्त करके विश्व को एक रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करें।

सब से महत्वपूर्ण बात है स्कूल की व्यवस्था को जनतान्त्रिक ढंग पर चलाना, जिससे कि बच्चों को स्वतन्त्रता, सहयोग, सामाजिक न्याय आदि का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हो और जिस पर नवीन विश्व व्यवस्था आधारित हो सके। यदि स्कूल जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शो का व्यवहारिक उपयोग नही है तो इनकी शाब्दिक शिक्षा देना व्यर्थ है।

भारत में शिक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने का पहला कदम है उसे जनतान्त्रिक बनाना। हमारे देश में शिक्षा कुछ सुविधा प्राप्त व्यक्तियो तक ही सीमित न हो वरन् उन करोडो बच्चो के लिये हो जिनको आज स्कूल में प्रवेश पाने की भी सुविधा नही है। अशिक्षा से जनतंत्र को जितना खतरा है उतना ही विश्व शांति को भी है। अपनी राष्ट्रीय शिक्षा का पुनर्निर्माण करके हम न केवल अपने जनतंत्र को सुदृढ बनावेंगे

वरन् विश्व शान्ति को भी बड़ी सहायता पहुँचावेंगे। बिना भारत की वर्तमान दशा को तथा इसकी भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखे अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की योजना एक सुन्दर कल्पना मात्र रहनेवाली है।'

BIBLIOGRAPHY

1. Badger, A B ; The Public Schools and the Nation, London, Robert-Hale Ltd., 1944.
2. Brubacher ; Modern Philosophies of Education, New York, Mcgraw-Hill Book Co , 1939.
3. Carr, E.H. ; The Soviet Impact on the Western World, New York, The MacMillan Co , 1947.
4. Conant, James Bryant, Education in a Divided World, Cambridge, Harvard University Press, 1948
5. Counts, George S , The Prospects of American Democracy, New York, The John Day Co., 1938
6. Dasgupta, Surendranath ; A History of Indian Philosophy, Vol. I, London, Cambridge University Press, 1922.
7. Dewey, John , Individualism Old and New, New York, Minton, Balch & Co , 1930.
8. Dewey, John ; Problems of Men, New York, Philosophical Library, 1946
9. Jacks, M L ; Total Education, London, Kegan Paul,Trench,Trubner & Co , 1946
10. Jeans, James Sir ; Physics and Philosophy, London, Cambridge University Press, 1948.
11. Joad, C E.M. ; About Education, London, Faber & Faber Ltd.
12. Kalinin, M.I. ; On Communist Education, Moscow, Foreign Languages Publishing House, 1949.

13 Laski, Harold J.; The State in Theory and Practice, New York, The Viking Press, 1947.

14. MacIver, R M.; The Web of Government, New York, The MacMillan Co., 1947.

15. Mookerjee, Radha Kumud; Ancient Indian Education, London, The MacMillan Co., 1947.

16. Mukerjee, Radha Kamal; The Social Structure of Values, London, MacMillan & Co. Ltd.,

17. Northrop, F.S.C.; The Meeting of East & West, New York, MacMillan & Co., Ltd., 1946.

18. Northrop, F.S.C.; The Logic of the Sciences and the Humanities, NewYork, The MacMillan Co., 1947.

19. Radhakrishnan, S.; An Idealist View of Life, London, George Allen & Unwin Ltd, Second Edition, 1947.

20. Radhakrishnan, S.; The Bhagavadgita, London, George Allen & Unwin, Ltd., 1948

21. Rich, R.W.; The Teacher in a Planned Society, London, University of London Press, Ltd, 1950.

22 Russell, Bertrand; History of Western Philosophy, London, George Allen & Unwin Ltd, 1947.

23 Shore, Maurice J.; Soviet Education, New York, Philosophical Library, 1947.

24. Smith, W.O. Lester; To Whom Do Schools Belong? Oxford, Basil Blackwell, 1943.

25 Ulich, Robert; Conditions of Civilized Living, New York, E. P. Dutton & Co, Inc 1946.

26. Webb, Sydney & Beatrice; Soviet Communism–A New Civilization, London, Longmans Green & Co, Third Edition, 1947.

REPORTS AND PERIODICALS

27 The Public Schools ; Report of the Committee on Public Schools appointed by the President of the Board of Education in July, 1942 His Majesty's Stationery Office, London, 1944

28. Progressive Education ; October, 1948 Published by the American Education Fellowship, Urbana, Illinois U.S.A.

29 School & Society ; Vol. 69 No 1784 February 26 : No. 1786 March 12, No 1789 April 2, 1949, Published by the Society for the Advancement of Education, Inc. at 10 Mcgovern Avenue, Lancaster. Pa, U.S A

30. The Nation ; February 26, 1949, 20 Vesey Street, New York, 7 N Y.

31 The Journal of Education; Vol 73, No. 859, Feb , 1941. Amen House Warwick Square, London E C 4